

Handwritten text in Devanagari script, appearing to be a list or a series of notes, partially obscured by a large black shape.

कासकरा

कासकरा

२१४ ट
शैले/कि

शैलेश मटियार्न

किसके राम, कैसे राम

शैलेश मटियानी

लहर प्रकाशन

७७८, मुट्ठीगज, इलाहाबाद

सस्करण	१९९१
सर्वाधिकार	शैलेश मटियानी
आवरण	शिवगोविन्द पाण्डेय
प्रकाशक	लहर प्रकाशन ७७८, मुट्ठीगज इलाहाबाद
लेजर टाइपसेटिंग	कम्प्यूटरकॉम इलाहाबाद
मुद्रक	सुलेख मुद्रणालय इलाहाबाद
मूल्य	सत्तर रुपये

भूमिका

राम का नाम अगर भारतवर्ष के सांस्कृतिक-सामाजिक नेपथ्य से बाहर आकर, की राजनीति के केन्द्र में आ - या ले आया - गया है, तो इस पर मुँह बिचकाने से बचना पड़ेगा नहीं। देखना जरूरी होगा ध्यान से यह कि कारण क्या है। यानी कि राम के की यह उपस्थिति सिर्फ धार्मिक-राजनैतिक ही है, या कि इसके तार कहीं देश सांस्कृतिक वितान तक भी जाते हैं ? क्योंकि धार्मिक-राजनैतिक उपस्थिति पर बिचकाने में कुछ हर्ज नहीं, लेकिन सांस्कृतिक नेपथ्य पर मुँह बिचकाने में हर्ज है। सस्कृति ही देश की आत्मा हुआ करती है और सस्कृति से कटी राजनीति ही देश का नरक। वस्तु का एक नेपथ्य होता है और उसे इससे अलग करके नहीं देखा जा सकता। देखा जाना चाहिये। बिना सांस्कृतिक नेपथ्य की राजनीति का क्या हथ्र होता है, यह के हाल के दृष्टांत में देखा जा सकता है।

राम के नाम को तात्कालिक धार्मिक-राजनैतिक उफानों से पृथक, यदि देश सांस्कृतिक नेपथ्य से जोड़कर देखना हो, तो तब देश की अवधारणा को पारदर्शी बन जरूरी होगा, क्योंकि सस्कृति को देश-काल के विराट फलक पर ही देखा जा सकता है। जो देश या राष्ट्र की एक स्पष्ट पारदर्शी अवधारणा नहीं रखते, वो देश की राज नीति भी नहीं कर सकते। हमारी मौजूदा राजनीति का देश के विराट की जगह, कुर्सी के चक्कर से जुड़ा होना ही अध पतन का सबसे बड़ा कारण है।

आज अगर राजनीति का कोई राष्ट्रीय आधार नहीं रह गया, तो इसीलिए कि भी राजनैतिक पार्टियाँ ऐसी नहीं, जिसके पास राष्ट्र या कि राष्ट्रीयता की कोई स्पष्ट अवधारणा हो। भाजपा भी नहीं। उसका शीर्ष नेतृत्व राष्ट्रवाद और राष्ट्रीयता के बीच विभाजक रेखा को स्पष्ट करने में अभी अक्षम है। राष्ट्र की कोई पारदर्शी अवधारणा होना ही उसकी सबसे बड़ी अंतर्बाधा है और इसे दूर करके ही वह राम के नाम राष्ट्रीय सदमों में देख सकती है।

राष्ट्र की अवधारणा से नया राजनीतिबाजी ही देश का कुम्भीपाक बनी हुई है।

ऐसे में देखना होगा कि राम के नाम की कोई राष्ट्रीय प्रासंगिकता बनती भी है, कि नहीं, क्योंकि तभी हम यह भी निश्चित कर पाएँगे कि राम का नाम देश को शुभ है, या कि नहीं। और कदाचित् निष्कर्ष बने कि शुभ है, तो इसे सिर्फ हिन्दुओं की परिधि तक नहीं रखना होगा, क्योंकि जो शुभ हो उसकी छाया सभी तक होनी चाहिये। और यदि तय हो कि राम का नाम देश को शुभ नहीं - अर्थात् यह देश को धर्माधना या कि अधराष्ट्रवाद के सिवा और किसी दिशा या सम्भावना में ले नहीं जायेगा- तब कुशल इसी में होगी कि इसे, यानी राम के नाम को, त्याग दिया जाय।

जिनका निष्कर्ष दूसरा बनता हो, वो अपना रास्ता तय करें। हमें यहाँ कहनी है सिर्फ एक बात और वह इन शब्दों में कि कुछ नाम देश की अतरात्मा, अर्थात् संस्कृति में गुथ जाते हैं और इन्हें बिना देश के चीथड़े किये हटाया नहीं जा सकता। राम का नाम, भारत के सन्दर्भ में, किसी धार्मिक पैगम्बर या पौराणिक ऐतिहासिक राजा का नहीं, बल्कि इस महादेश के पूरे सांस्कृतिक-आध्यात्मिक विमान का अंग है। राम का नाम हटाने का मतलब सिर्फ मंदिरों नहीं, बल्कि महाकाव्यों से लेकर लोरियाँ तक को हटाना होगा। बिना राम के भारत का सही उल्लेख असम्भव है।

कुछ लोग होते हैं, जो व्यतीत होते-होते, लुप्त हो जाने की जगह, आने वाले लोगों की चेतना तथा संवेदना से जुड़ते ही नहीं, बल्कि गुथते चले जाते हैं और जब यह सिलसिला शताब्दियों-सहस्राब्दियों की कालावधियों के भी पार तक चला जाता है, तो ये एक पूरे देश तथा समाज का ऐसा अतीत बन जाते हैं, जो वर्तमान ही नहीं, बल्कि भविष्य तक झिलमिल उत्पन्न करता है।

राम का नाम एक ऐसा ही नाम है और इससे मुँह बिचकाना, दरअसल, इस देश और संस्कृति से मुँह बिचकाना है। कुछ लोग देश, काल और समाज की संवेदना का आधार बनते-बनते पर्वतों, नदियों, सागरों और अरण्यों तथा भूमिक्षेत्रों की ही भाँति देश के नक्शे का अंग हो जाते हैं। उन्हें देश के भूगोल-खगोल से हटाना असम्भव हो जाता है। ऐसा देश के सांस्कृतिक हनन की कीमत पर ही किया जा सकता है। राम का भारत के नक्शे में यही स्थान है।

राम का नाम नहीं लेने में कोई हर्ज नहीं, इसे शर्त बनाना स्वाधीनता में हस्तक्षेप होगा, लेकिन इस पर मुँह बिचकाने में हर्ज है, अगर कि बात देश और संस्कृति से जुड़ी हो, क्योंकि कुछ भी सिर्फ वर्तमान में नहीं होता। प्रत्येक वस्तु दिक्काल से है। देश भी। उसे उसके पूरे समय और समस्त दिशाओं में ही देखा जा सकता है। देखा जाना चाहिये। राम भी भारत का दिक्काल है। शब्द को काल से नहीं विलगाया जा सकता और न ही स्थान से। इस दृष्टि से देखें, तो राम भारतवर्ष का 'महाशब्द' है, क्योंकि इसके क्षेत्र और समय की परिधियाँ पूरे देश से गुँथी हैं।

जिसे हम अस्मिता करके जानते हैं, वो सिर्फ हममें, या हमसे नहीं होती। अस्मिता के

तार अतीत से भविष्य तक जाते हैं। देश-काल से कटी अस्मिता सिवा अकाशबेल के और कुछ नहीं होती। अस्मिता का, व्यक्ति और नागरिक के तौर पर भी, एक व्यापक सांस्कृतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक तथा भौगोलिक विस्तार हुआ करता है, क्योंकि हम एक जागतिक विराट से जुड़े हैं। हमारे तार देश-काल के उस विस्तार तक जाते हैं, जहाँ कि एक समय था कि हम नहीं थे और एक समय में नहीं होंगे, लेकिन हमारे होने के तार इन दोनों छोरों तक जाते हैं। हमारे चिंतन का मूलधार देश-काल की यह अगाधता ही है। जिन्हें यह अगाधता जितने बड़े परिमाण में होती है, वो हमारी चेतना और संवेदना में उतनी ही अधिक झिलमिल उत्पन्न करते हैं।

राम भी इसी अगाधता का एक नाम है। राम हमारी संवेदना के हिमालय, समुद्र या आकाश की भाँति हैं। राम पृथिवी पर के सबसे प्रथम तथा सबसे महान् महाकाव्य की एक ऐसी अनुगूँज है, जिसे करोड़ों-करोड़ भारतीयों के जीवन में माँ के गर्भ से लेकर, चिता की अग्नि तक में सुना जा सकता है।

वो सारी वस्तुएँ देश और समाज की धरोहर हो जाती हैं, जो देश-काल की अगाधता, या कि संवेदना के विराट का प्रतीक बन जाएँ। राम उतने ही नहीं, जितना वाल्मीकि के सृजन में थे। राम में हमारी सहस्राब्दियाँ का प्रवाह जुड़ा है। जब भी कोई देश-समाज अपनी अस्मिता की टोह करता है, तब उन्हीं लोगों या वस्तुओं में अपना आपा खोजा जा सकता है, जिनमें देश-काल के प्रवाह गुथे हों। जिनमें अपन को संचित किया गया हो। जो हमारा सर्वोच्च अर्जन या सृजन हों।

राम का नाम भारतवर्ष का सबसे बड़ा सांस्कृतिक-सामाजिक आविष्कार है।

काल बीतता ही नहीं, सृजित और संचित भी होता है। ऐसे में, जो वस्तुएँ काल का पुज हो जाती हैं, उनका विस्तार पर्वताकार हो जाता है। राम भी पर्वत हैं और पर्वत को थूकने से भी कोई अंतर नहीं पड़ता। अब सवाल है यह कि राम का नाम हम किस- या कितने-अर्थ में लेते हैं ?

अर्थात् अगर राम का नाम हम इस महादेश के एक ऐसे सामाजिक-सांस्कृतिक सृजन के रूप में लेते हैं, जो कि हमारे देश-काल की अंतरात्मा की अनुगूँज है- जिसे कि लेते ही हम अपने को देश-काल तथा संवेदना के विराट में अनुभव करते हैं- जिसमें कि हमारा सहस्राब्दियों तक का आपा प्रतिबिम्बित होता है- तो कहा जा सकता है कि हमें हक है। -लेकिन इसे -यानी राम के नाम को -दूसरों की साँसत बनाने का हमें कोई हक नहीं।

ऐसे में देखना जरूरी होगा कि विश्व हिन्दू परिपद या कि भाजपा का राम का नाम क्या अर्थ रखता है। और कि कितना। राम भारतवर्ष का आध्यात्मिक सृजन है और अध्यात्म का विषय सिर्फ एक रहा है -स्वाधीनता। अर्थात् कुछ भी अतः साक्ष्य से ही मानने, या नहीं मानने की स्वाधीनता।

जो राम का नाम लेते हैं और जो राम का नाम नहीं लेते, इन दोनों में कोई भेद नहीं अगर कि वो इस देश से संवेदना और स्मृति के धरातल पर ठीक वैसे और उतने ही

जुड़े हों, जितना कि राम का नाम लेने वाले , क्योंकि राम देश-काल की अनुगूँज हैं, स्वयं देश-काल नहीं और देश-काल को इनके विराट से अलग नहीं देखा जा सकता। कौन और कितना ही महानतम व्यक्ति भी देश-काल का पर्याय नहीं हो सकता , क्योंकि देश-काल का एक ही पर्याय है- समाज ।

आज भारतवर्ष में वही समय नहीं, जो तब था। समाज भी नहीं। आज तो हमें देश की अवधारणा करते में अमीर खुसरो से लेकर रहीम-रसखान-गालिब-नजीर-मीर-दाग -जिगर और अलाउद्दीन खा- अमीर खा -बिस्मिल्ला खान आदि उन सभी के नाम भी जोड़ने होंगे, जिन्होंने राम का नाम चाहे लिया हो कि नहीं, लेकिन इस देश की सांस्कृतिक विरासत को प्राणों का रस जरूर दिया है।

तब हमें भूलना नहीं होगा कि आज राम का नाम नहीं लेने वाले करोड़ों में हैं और वो राम का नाम लेने वालों की ही भाँति इसी देश-समाज का अंग हैं। अर्थात् राम का नाम नहीं लेने वालों को कोई न इन्से पहले देश-निकाला दे पाया, न आज दे सकेगा , क्योंकि जो भी पाकिस्तान बनेगा, बनेगा भारत के नक्शे में ही। आदमी और जमीन का रिश्ता बहुत गहरा है। आदमी को उखाड़ फेंकिये, तो जमीन का टुकड़ा भी उखड़ेगा जरूर। आज नहीं, तो कल। अगर कि आदमी की जड़ें उस जमीन में हैं।

कहना का तात्पर्य यही कि राम के नाम को इस महादेश के शुभाशुभ के सवालों से बाहर, या ऊपर ले जाकर नहीं देखा जा सकता, इसलिये अगर इसे हम अंतरात्मा के विराट से बाहर, देश और समाज से जोड़कर देखना चाहते हैं- जो कि हमें करना ही चाहिये, क्योंकि देश, काल और समाज की चेतना से विहीन सिर्फ प्रेतात्माएँ ही हो सकती हैं- तो देखना होगा देश की कसौटी पर ही, क्योंकि कुछ भी किसी देश में ही उत्पन्न होता है।

राम का नाम भी।

ऐसे में, इतना तय है कि अगर हम राम का नाम देश की अवधारणा को पारदर्शी बनाने को लेते हैं, तो हम सही हैं। नहीं, तो सही नहीं है। आज जब राम का नाम राजनीति की धुरी बना दिया गया है, तो इसके सम्भावित खतरे भी होंगे जरूर और इनके प्रति उदासीन हो रहना देश के हक में होगा नहीं।

जाहिर है कि मुस्लिम सवेदना के धुवीकरण की प्रतिक्रिया में ही अतत हिन्दू सवेदना के धुवीकरण की मुहिम भी सामने आई है और इस मामले में विश्व हिन्दू परिषद या भाजपा को कोसने का उन राजनैतिक पार्टियों को कोई नैतिक अधिकार नहीं, जिन्होंने देश को साम्प्रदायिकता और जातिवाद को आग के हवाले करते कोई सकोच कतई नहीं किया।

भारतवर्ष का रहा है, लेकिन देश की मौजूदा राजनैतिक पार्टियों में से किसी का भी चरित्र धर्मनिरपेक्षता का नहीं। यहाँ तक कि कम्युनिस्ट पार्टियों का भी नहीं, जो कि अल्पसंख्यकों (अर्थात् इस्लाम) के मोहरे चलते-चलते, वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त को लात

मारकर, आज जातिसंघर्ष में सम्भावनाएँ खोज रहे हैं। जनता दल का हाल तो और बुरा है। उसके राजा साहब को यही पता नहीं कि जाति की राजनीति खेलना धर्म की राजनीति से अलग नहीं। और कि भाजपा की रथयात्रा का प्रस्थानबिन्दु उनके मण्डलवाद से ही प्रारम्भ हुआ।

राम का नाम आज भारत की सांस्कृतिक-धार्मिक परिधियों से बाहर आकर, राजनीति की दुनिया में भी एक प्रभावी शक्ति का रूप लेता दिखाई पड़ रहा है, तो इससे सभी राजनैतिक पार्टियों को समान रूप से सबक लेना है- सिर्फ भाजपा को नहीं।

साफ शब्दों में कहें, तो कहना होगा कि इस्लाम के तुष्टीकरण और जातिवादी विग्रहवाद की राजनैतिक चालों को समेटकर ही राम के नाम को भी उस नेपथ्य में किया जा सकता है, जहाँ से कि इसे बाहर ले आया गया है। भारत की सांस्कृतिक विरासत के उस नेपथ्य से बाहर आते ही राम का नाम रामबाण की शक्ल ले सकता है, अगर इतनी भी समझ इन राजनैतिक पार्टियों को नहीं, तो इसे सिवा नासमझी के और क्या कहा जा सकता है।

दीपक की जगह दीपक रखने को, पिण्ड की जगह पिण्ड रखना होता है। राजनीति इस नियम का अपवाद नहीं हो सकती। ऐसे में भारत की सभी राजनैतिक पार्टियों को आज नहीं, तो कल- कभी-न-कभी इस दिशा में पहलकदमी करनी ही होगी कि देश की कोई स्पष्ट अवधारणा की जाय, ताकि संविधान में सम्प्रदाय, धर्म और जाति की राजनीति के चोर-दरवाजों को बन्द किया जा सके।

देश की स्पष्ट अवधारणा करने की बहस में ही यह भी तय हो सकेगा कि किसी देश का अपनी अस्मिता से भी कोई वास्ता होना चाहिए, कि नहीं। और यदि होना चाहिये, तो इसके प्रतीक क्या होंगे ? अगर हम ऐसा नहीं कर पाते, तो तय है, कि हमें राम का नाम लेना आया नहीं। आज हमारे सामने सबसे गम्भीर और गहरा सकट आत्महीनता का है। हमें इस आत्महीनता से उबरने का संघर्ष करना ही होगा।

आज भारत की सबसे बड़ी विडम्बना आत्महीनता की है। लगता है, जैसे पूरे देश की ही आत्मा मर चुकी है। शताब्दियों की गुलामी ने हमारी आत्मा के तार तोड़ दिये हैं। हमें ऐसे प्रतीकों को खोजना ही होगा, जिनके सहारे कि हम अपने तार पूरे देश-काल से जोड़ सकें। हमें सबसे बड़ी जरूरत पारदर्शिता की है। हमें अपना अतीत देखना ही होगा, क्योंकि बिना अतीत के न वर्तमान को सही देखा जा सकता है, न ही भविष्य को। यह सिर्फ संस्कृति ही नहीं, बल्कि राजनीति की भी पहली जरूरत है कि हम अपने सम्पूर्ण परिदृश्य का आकलन करें। सांस्कृतिक विरासत से कटी राजनीति में पारदर्शिता मर जाती है, क्योंकि उसका प्रवाह देश-काल के तीनों चरणों तक नहीं जा पाता।

अतीत, वर्तमान और भविष्य, ये काल ही नहीं, बल्कि आदमी और देश के भी चरण हैं। हममें ये तीनों झिलमिलाते हों, तभी हमारे कर्म की दिशा भी सही हो सकती है।

आदमी में पारदर्शिता नहीं, तो देश-काल में भी नहीं होगी, क्योंकि सब आदमी से निबद्ध हैं। राजनीति अगर आदमी को उसकी समग्रता में देखने से इकार करे, तो उसकी पारदर्शिता मर जाती है। उसमें देश, काल और समाज की आत्मा से रस लेने की शक्ति नष्ट हो जाती है। राम का नाम लेते ही हमारे सामने देश, काल और समाज का एक विराट उपस्थित होता है। भारत की जो राजनैतिक पार्टियाँ राम के नाम पर थोबड़ा फुला लेना चाहती हैं, उन्हें सोचना ही होगा कि ऐसा करके वो दरअसल कर क्या रही हैं।

राम के नाम से कटना, कहीं-न-कहीं, इस देश के अतीत से कटना भी है। इसका अर्थ हुआ कि हमें देश का एक बहुत बड़ा हिस्सा दिखाई ही नहीं पड़ता है। याकि निश्चित स्वार्थों के तहत हम देश को सागोपाग देखना ही नहीं चाहते। यानी हममें पारदर्शिता नहीं रह गयी है। हमें कुछ भी सही और दूर तक दिखाई नहीं दे रहा है। तुलसीदास ने अगर कहा कि 'राम नाम मणि दीप धरु, जीह देहरी द्वार। तुलसी भीतर-बाहिरे, जो चाहसि उजियार।' तो इसीलिये कि उन्हें देश, काल और समाज की चेतना थी। वो अधियारे को देख रहे थे। और यह भी कि दीपक कौन हो सकता है।

राम का नाम निमित्त है। कृष्ण राम का ही उत्तरार्द्ध हैं। राम के निमित्त से अपने अधरे-उजियाले हमे देखने ही होंगे। राजनीति में भी, क्योंकि राजनीति अब हमारी आत्मा की सरहदों तक थपेड़े मारने लगी। भौतिक विज्ञान ने उसके पजों को इतना पैना बना दिया है कि वह संस्कृति तक को नोंचकर फेंक सकती है। उसे मनचाहे तौर पर विकृत कर सकती है। उसे इतना ठस बना सकती है कि हमें उसमें अपना आपा दिखना बन्द हो जाय। हमारी मौजूदा राजनीति के यही सारतत्व हैं।

राम का नाम अपना आपा खोज सकने का निमित्त है। यह भीतर-बाहर पारदर्शिता उत्पन्न कर सकने का उपाय है। अगर नहीं, तो फिर यही कहना होगा कि- राम का नाम लेना व्यर्थ है, क्योंकि संस्कृति का पहला काम हमें हमारा आपा प्रदान करने का है। हममें पारदर्शिता उत्पन्न करने का।

देश की सांस्कृतिक विरासत को पारदर्शी बनाना ही उसके राजनैतिक परिदृश्य को पारदर्शी बनाना भी हो सकता है। जो राजनैतिक पार्टियाँ अपनी सामाजिक-सांस्कृतिक विरासत से कोई सबक नहीं लेती -या कि अपने देश, काल और समाज के वृहद् नेपथ्य को छोड़ देती हैं -उनकी कैसी भी क्रांतिकारी विचारधाराओं का हथ्र क्या होता है, इसे पूर्वी यूरोप के हाल के घटनाचक्रों के आलोक में बखूबी देखा जा सकता है। रूस में मार्क्सवाद का सद्य पतन इसी तथ्य की गवाही है कि जो समाज, संस्कृति और परम्परा से रस लेना बन्द कर देते हैं, वो अतत काठ हो जाते हैं। चिटख जाते हैं।

राम का नाम भारत के सांस्कृतिक-सामाजिक और भौगोलिक नेपथ्य का सर्वोच्च प्रतीक है और अगर आज इसे राजनीति के समर में भी ले आया गया है, तो मामले को ठीक से समझना जरूरी होगा, क्योंकि नाम हो कि काम, नासमझी किसी में ठीक नहीं। अर्थात् अगर बाकी की राजनैतिक पार्टियाँ राम के नाम पर मुँह बिचकायेगी, तो प्रकारांतर

से ये यही सिद्ध कर रही होगी कि देश की आत्मा से इनका कोई वास्ता नहीं।

कहना जरूरी नहीं होना चाहिए कि यह भाजपा को ही इस देश की सांस्कृतिक-राष्ट्रीय विरासत का एकमात्र सवाहक करार देना भी होगा। अर्थात् राम के नाम पर मुँह बिचकाना, हरहाल में, भाजपा की राजनैतिक जड़ों को खुराक पहुँचाना ही होगा। यह भी तय है कि अगर भाजपा राम को राष्ट्रीय सदर्म बना ले, तो उसे हाशिये पर करना असम्भव होगा।

इस जगत में कुछ भी बिना आत्मा का नहीं। अगर हो, तो उसका शुमार प्रेत या खोखल में ही होगा। रस ही सबकी आत्मा है। बिना रस का न आलू अच्छा, न आकाश। संस्कृति ही देश और पृथिवी का रस है और स्मृति ही इसके सवहन का आधार।

राम का नाम देश की आत्मा का अविच्छिन्न अंग है और इसका राजनीति के क्षितिज पर बार-बार उचित होना भी इसी बात का साक्ष्य है, क्योंकि जैसा कि अनेक बार कहा कि राम के नाम को हाशिये पर नहीं डाला जा सकता। राम सिर्फ अयोध्या के राजा नहीं, बल्कि हमारी एक विराट सांस्कृतिक धरोहर का नाम है और संस्कृतिविहीन राजनैतिक पार्टियाँ सिर्फ राजनैतिक प्रेतों की ही भूमिका अदा कर सकती हैं।

प्रत्येक देश की आत्मा, अंततः, उसकी संस्कृति में ही प्रतिबिम्बित होती है।

जिसमें आत्मा न हो, उसमें अनुगूँज भी नहीं होती और काल के प्रवाह में सिर्फ वही टिक पाते हैं, जिनमें कि अनुगूँज होती है। राम का नाम, अपने महाकाव्यात्मक अर्थ में, भारतवर्ष की अंतरात्मा की अनुगूँज का प्रतीक होने से ही देश-काल के सहस्राब्दियों लम्बे प्रवाह में विद्यमान है। इसी तर्क से फिर कहना होगा कि राम का नाम नहीं लेने में कोई हर्ज नहीं, लेकिन इस पर मुँह बिचकाने में हर्ज है।

ऊपर की बात को भारतीय बुद्धिजीवियों के सदर्म में भी ध्यान से देखना होगा, क्योंकि राम के नाम पर मुँह बिचकाने वाले तथाकथित बौद्धिकों की संख्या बढ़ी है। राम के नाम पर मुँह बिचकाना जनतादी-प्रगतिवादी दिखने का साधन हो गया है। लेकिन जैसा कि बार-बार कहा- राम का नाम नहीं लेने में कोई हर्ज नहीं, लेकिन राम के नाम पर मुँह बिचकाने में हर्ज है। ठीक उसी तरह, जैसे कि अगर हम खुदा, मुहम्मद साहब या ईसा का नाम पूरे आदर से लेते हों, तो बहुत अच्छा, लेकिन अगर नहीं भी लें, तो कोई खास हर्ज नहीं। किंतु इनके नाम पर मुँह बिचकाने में हर्ज है; क्योंकि यह प्रकारान्तर से इनसे आस्था और संवेदन के स्तर पर जुड़े करोड़ों-करोड़ लोगों की भावनाओं पर मुँह बिचकाना होगा। राम के नाम पर मुँह बिचकाने वाले तमाम तथाकथित जनवादी-प्रगतिवादी बुद्धिजीवी यही कर रहे हैं। वो भारत की जातीय संस्कृति, स्मृति और संवेदना पर मुँह बिचका रहे हैं।

जिस नाम को बनने में एक विशाल देश-समाज के हजारों साल लगे हों, उस पर मुँह बिचकाना विवेक या प्रगतिशीलता की गवाही देना नहीं। देश के सांस्कृतिक नेपथ्य पर मुँह

बिचकाने वाली बौद्धिक उच्छ्वलता एक निकृष्ट राजनैतिक हथकण्डा हुआ करती है। इसकी जड़ें सस्कृति-शून्य राजनीति में होती हैं।

इस बात पर फिर जोर देना होगा कि राम के नाम के दुरुपयोग को रोकने को इसके सांस्कृतिक नेपथ्य की पहचान जरूरी होगी। यह विचार और कलाक्षेत्रों के लोगों की जिम्मेदारी बनती थी कि भारत के उस सांस्कृतिक नेपथ्य को पारदर्शी बनाएँ, जो राजनीति को भी आलोक दे सकता है।

जैसा कि पहले भी कहा, सस्कृति ही देश की आत्मा है, इसलिये सस्कृति के सारे सवाल अतः देश की आत्मा के सवाल हैं। राम का नाम भी एक सवाल है। हमारे पास इसका जवाब क्या है ?

रामजन्मभूमि में राम के करोड़ों की लागत का भव्य मंदिर बना जाना भी राम के नाम को उसके सांस्कृतिक नेपथ्य से जोड़ देना नहीं ही हो पायेगा, क्योंकि कुरान की यह हिदायत राम के सवाल तक भी बिल्कुल जायेगी कि जो स्थान झगड़े की जगह बन चुकी हो, वह खुदा की इबादत को माकूल नहीं हो सकती। दूसरों की छाती में घाव करके खड़े किये गए उपासनागृहों से कुर्सी की राजनीति भले ही चल निकले, देश के सवालों के जवाब नहीं खोजे जा सकेंगे। इसलिए अगर राम के नाम को हिंदुओं की आत्मा को जगाने को निमित्त भी बनाएँ, तो ध्यान रखना जरूरी होगा कि अतीत को जगाना अलग बात है- भूत को जगाना अलग। अतीत को जगाने को सस्कृति के उन आरोह-अवरोहों की चेतना जरूरी है, जो राग उत्पन्न करते हों, खटराग नहीं।

अर्थात् राम के नाम को सम्भावना के अंतिम क्षण तक हिंदू-मुसलमान के बीच के राग की सम्भावनाओं के तौर पर देखना होगा। खटराग मिटाने की हर सम्भव कोशिश करनी होगी।

वस्तु देश-काल से जुड़ी है। आज हमारे देश-काल का नक्शा ठीक वही नहीं, जो रामराज्य के मिथक का हो सकता है। आज बाबर नहीं सही, लेकिन रहीम भारत की हकीकत है। राम के नाम को बाबरी जुनून से बचाने का एक ही रास्ता हो सकता है, इसे रहीम से गुँथ देना। अगर हम ऐसा नहीं कर पाये, तो राम के नाम को देश के काम ला नहीं पायेंगे।

जोड़ना ही सेतुबंध रचना है। हिंदू और मुसलमान के बीच का सेतु न राम के नाम के बिना बँधेगा और न रहीम के। इसलिए राम के नाम को उस मुकाम तक ले जाना जरूरी होगा, जहाँ वह रहीम से समरस हो जाय, क्योंकि जहाँ तक सस्कृति का सवाल है, आज और भविष्य के भारत में सिर्फ वही सिक्का दूर तक चल पायेगा, जिसके एक तरफ राम हो, दूसरी तरफ रहीम। इस सांस्कृतिक गठन के बिना हिंदू और मुसलमान का सम्बन्ध टिकेगा नहीं।

इस्लाम को भारत के सांस्कृतिक नेपथ्य का हिस्सा बनाये बिना आगे का साझा

दिन-दिन कठिन होता जायेगा। इसलिए ही बार-बार इस बात पर जोर देना जरूरी लगा कि राम के नाम पर मुँह बिचकाना ठीक नहीं, क्योंकि दरअसल यह हिंदू-मुसलमान के बीच दरार डालना होगा। जैसा पहले भी कहा कि हर वस्तु देश-काल से निबद्ध है-इस्लाम इसका अपवाद नहीं हो सकेगा। अगर भारत के इस्लाम और मुस्लिम देशों के इस्लाम में कोई फर्क नहीं हुआ होता, तो हिंदू और मुसलमान के बीच का शताब्दियों तक का साझा असम्भव था।

धर्म, मजहब, शिक्षा या कानून- सबको देश के अनुरूप होना जरूरी है। इस्लाम को भी इसी नियम से जोड़ना होगा। जिस इस्लाम में बाबर की सत्ता राम से बड़ी हो, वह भारत में नहीं चलेगा। जिस इस्लाम में मुसलमानों के लिये अलग कानूनों की माँग हो, वह भी नहीं। भारत के हिंदुओं के लिये अलग कानूनों को भी कोई जगह नहीं होगी। नहीं होनी चाहिए। कानून में अलग होना ही, जमीन में अलग होना भी है, क्योंकि जमीन आदमी के सिर्फ बाहर ही नहीं, भीतर भी जमीन होती है और इसे बाहर की जमीन से अलग करके नहीं देखा जा सकता। संस्कृति जमीन की इस एकात्मकता में से ही उदित होती है, क्योंकि वह देश की अंतरात्मा का काव्य है। और जो देश कानून में एक नहीं हो, उसका काव्य में एक होना असम्भव है; क्योंकि जहाँ आदमी दोफाड़ हो, वहाँ संस्कृति में एकात्मता सम्भव नहीं।

राम के नाम का सवाल भी अंततः भारत की जमीन का सवाल है। जमीन के मामले बहुत दूर तक जाते हैं। राजनीति इसे कोर्ट-कचहरी तक ले जाती है और संस्कृति काव्य तक! रामजन्मभूमि के सवाल को हम कहाँ ले जाना चाहते हैं?

इतना ध्यान रहे कि राम का नाम भारत का सांस्कृतिक सत्य है। इस सचाई को नकारकर इस्लाम भारत की आत्मा में प्रतिबिम्बित नहीं हो सकेगा। यह बात दीगर कि आगे कभी भारत पूरा-का-पूरा पाकिस्तान बन जाय। इसलिए जब हम भारतीय संस्कृति की बात करें, और मानें कि संस्कृति ही देश की आत्मा होती है, तब राम के नाम के बिना काम चलेगा नहीं।

इस्लाम को भारत के सांस्कृतिक नेपथ्य से अलगाना ही हिंदू और मुसलमान को अलगाना है। इसलिए रामजन्मभूमि-बाबरी मस्जिद को भारत के उस सांस्कृतिक नेपथ्य के आलोक में देखना जरूरी होगा, जिसमें राम के नाम की व्याप्ति लगभग वैसी ही है, जैसे फूल में सुगंध की। इसी अर्थ में राम का नाम भारतवर्ष की सांस्कृतिक सुरभि है। और यह सुरभि सिर्फ हिंदू को नहीं, इसका कबीर से बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है।

‘किसके राम, कैसे राम’ समय-समय पर के आलेखों-पत्रों का संग्रह है। अलग-अलग में लिखे-छिपे इन लेखों में कई त्रुटियाँ होंगी, पुनरावृत्तियाँ भी। कटु उक्तियों से भी इंकार नहीं, लेकिन इरादा सिर्फ बहस का रहा और सचमुच जान सकने का।

‘चौथी दुनिया’ के प्रकाशन के दौर में भाई रामकृपाल ने जिस अपनापे के साथ

12/किसके राम, कैसे राम

अनेकानेक विवादास्पद लेखों का छापा, कृतज्ञता प्रकट करना जरूरी होगा। 'अभिप्राय' के सम्पादक डॉ० राजेन्द्र कुमार के प्रति भी।

स्व० बहादुर साहब उन लोगों में थे, जिनके सहारे कभी दुर्भिक्ष का कुछ समय कटा जिनसे दुख को सुने गये होने की प्रतीति हुई।

-शैलेश मटियानी

स्वर्गीय एफ० जे० बहादुर को कृतज्ञतापूर्वक

अनुक्रम

किसके राम, कैसे राम	१७
रामायण पर चली कलमकटारी	२७
राम का नाम	४७
हिन्दू-मुसलमान का सवाल	५६
भारतीयता का समझ का इमामबाडा	७५
साम्प्रदायिकता- विरोध की साम्प्रदायिकता	८२
राम जन्मभूमि बनाम बाबरी मसजिद	१०१
रामायण और रामचरितमानस के सांस्कृतिक खतरे	११७
चिट्ठी-पत्री	१३१

किसके राम, कैसे राम

बाबा साहब डॉ० भीमराव अम्बेडकर ने राम और 'रामायण' के बारे में ('हंस' जनवरी १९८८) सिवा झूठ के और कुछ नहीं बताया , क्योंकि छिपाया ज्यादा, बताया थोड़ा है। वह भी सदर्थ से काटकर, या गलत जोड़ते हुए। कोई मोर के पंख छिपाये, या पैर, कुल मिलाकर यह मोर को छिपाना है और इसी से बना है मुहावरा कि- चोरो से मोर नहीं मरते।

संपादक 'हंस' ने भी राम पर 'लीप-पोतकर तैयार मर्यादा पुरुषोत्तम अवतार' की टीप लगाना जरूरी समझा है, बाबा साहब ने लीप-पोतकर जो 'घिनौना, अधम और लम्पट' राम तैयार किया, उससे गदगद हैं संपादक-'हंस'। उन्होंने कृष्ण को मर्यादाभजक, अपेक्षाकृत अधिक मानवीय 'पूर्णपुरुष' मानते हुए, बाबा साहब अम्बेडकर के कृष्ण-मथन को 'हंस' में नहीं छपा है।

जहां तक 'अपेक्षाकृत अधिक मानवीयता' का प्रश्न है, यह तर्क राम के पक्ष में ज्यादा जाता है। कृष्ण में योगपक्ष प्रबल है। वो पत्नी-त्रियोग में व्याकुल पशु-पक्षियों, वृक्षों-लताओं या नदी-पर्वतों से वैदेही का पता पूछते राम नहीं। कृष्ण पांडवों के महाप्रस्थान और वश-विनाश तक को स्वयं की योगदृष्टि से झेलते योगेश्वर हैं- लक्ष्मण के मूर्च्छित होने पर विलाप करते राम नहीं।

वानर-भालुओं तक में तादात्म्य अनुभव करते राम का सहज मानवीय रूप ज्यादा लौकिक है, आश्चर्य कि 'हंस'-संपादक को इसमें एतराज है।

आइए, जरा बाबा साहब डॉ० भीमराव अम्बेडकर की 'राम-रामायण-मीमांसा' की झांकियां देख। बाबा साहब का कहना है -

'वाल्मीकि द्वारा रचित 'रामायण' के नायक हैं राम। रामायण की कथा बहुत संक्षिप्त-सी है। बिल्कुल सीधी-सपाट ऐसा कुछ भी नहीं, जो उत्तेजित कर सके।' (हंस, जनवरी 1988)

उत्तेजना के लक्षण क्या होंगे ? हाथ-पांव फेंकना, चीखना-चिल्लाना ही उत्तेजना के

लक्षण माने जायेंगे, या कि झूठ बोलना भी ? माना कि जो जितना बड़ा पंडित, वह खुद की उत्तेजना को छिपाने की उतनी ही चतुरता भी बरतेगा जरूर, लेकिन शब्दबद्ध हुआ क्या छिपता है। 'रामायण' की कथा क्या सचमुच इतनी सीधी-सपाट है कि वाचक या श्रोता में कहीं कोई हलचल उत्पन्न ही नहीं करे ? तब यह सपाट कथा देश-देशांतरों, काल-कलांतरों को पार कैसे कर गयी ? और 'बहुत संक्षिप्त-सी' से क्या इंगित करना चाहते रहे होंगे, बाबा साहब ? सूर्य पृथ्वी पर से कितना संक्षिप्त-सा दिखाई पड़ता है !

'रामायण' मानवचेतना का सूर्यबिंब है, लेकिन जिसे आकार और गुण मिलाकर देखना नहीं आए, उसे कुछ भी सही देखना नहीं आता। सिर्फ आकार के आधार पर वस्तु का मूल्यांकन वही करता है, जिसमें वस्तु को समग्रता में देखने की दृष्टि नदारद हो। देश, काल और समाज के नाना सोपान मात्र आकार से पार नहीं होते। राष्ट्रप्राप्ति और देश-देशांतरों की संरहदों के पार वही वस्तु पहुंचती है, जिसमें कालजयी सारगर्भत्व हो।

'रामायण' के बारे में अबेडकर साहब का फतवा मडूकोपाख्यान के सिवा कुछ नहीं। जिस रामकथा को लेकर तुलसीदास ने वाल्मीकि के हजारों वर्ष-बाद, 'पुनि-पुनि किन्नरहु सुने सुनाये। हिय की प्यास बुझत न बुझाये।' कहते हुए, 'रामचरितमानस' की रचना की-अफसोस कि कानूनमार्तंड बाबा साहब को वह निहायत सपाट, संक्षिप्त और आकर्षणशून्य लगी। जाहिर है कि वस्तु आदमी के चरित्र से अर्थ ग्रहण करती है और जिसका जैसा चरित्र, वैसा राम अवश्यम्भावी है।

कोरा किताबी ज्ञान, कोई ज्ञान नहीं। हर वस्तु के दो छोर हैं। एक को ओझल करना, दूसरे छोर पर अधेरा फैलाना है। आकार ही नहीं, गुण, रूप ही नहीं, अंतर्वस्तु, उद्देश्य ही नहीं, परिणाम, स्थान ही नहीं, काल, और दिशा ही नहीं, दृष्टि को भी ध्यान में रखना ही ज्ञान है। ज्ञान मन से जुड़ा है। जिसका मन उद्भ्रात, उसका ज्ञान भी विकृत होगा जरूर। उसकी दिशा और दृष्टि, दोनों में धुंध होगी। वाल्मीकि ने ऐसी मनोदशाओं में राम तक को मोहग्रस्त बताया- बाबा साहब अबेडकर तो अबेडकर हैं।

आदमी के सारे कार्य-कलाप और ज्ञान-ध्यान एक इस बात से बंधे हैं कि वह चाहता क्या है ? राम का चरित्र बताने के पीछे वाछा विकृत होने से मनोदशा भी तत्सम है। अपने मतलब-भर को पर्याप्त सामग्री चुनने की उतावली में 'आदौराम तपो वनादिगमनम्। एतद्वि रामायणम्' का रास्ता चुना बाबा साहब ने। यह 'शॉर्टकट' ही उन्हें 'रामायण' की मनमानी कथा-संक्षिप्ति में ले गया है। निहित उद्देश्य की उत्तेजना से चित्त इतना अस्थिर है, बाबा साहब का, कि पांडित्य की एकमात्र सिद्धि 'मारू घुटना, फोड़ू आख' में दिखाई पड़ी है। जातिवादियों की जगह 'रामायण' और राम पर प्रहार करना, प्रकारांतर से, कट्टरपथियों के हाथों को मजबूत बनाना ही है, क्योंकि इससे उन्हें 'हिंदुओ, जागो।' चिल्लाते हुए हिंदू-समाज के सकटों को दूर करने के लिए जूझ रहे होने की साख बनाने का अवसर मिलता है।

वस्तु का एक ही छोर खगलने की उतावली में बाबा साहब भूल ही जाते हैं कि

महाकाव्य और कानून के बुनियादी तत्व एक नहीं। बाबा साहब ने रामकथा, भाष्य-समेत निबटाने को चार-पाच 'फुलस्केप' कागज पर्याप्त समझ लिये। वाल्मीकि ने सिर्फ हनुमान के समुद्र-लघन और सीता की सुधि लेकर, राम तक वापस लौटने का ही वर्णन ६४ सर्गों में किया है। राम को सबर्णों के आराध्य के रूप में देखने का पूर्वग्रह बाबा साहब को राम की छवि के विध्वंस की उत्तेजना में ले गया है। उनके पांडित्य का लक्ष्य एक है- राम को पातकी सिद्ध करना। उन्हें भ्रम है कि राम ही सनातन धर्म का मेरुदंड हैं और इसी पर पूरी शक्ति से प्रहार करना है।

सामान्य के भ्रम स्वाभाविक हैं, पंडित के खतरनाक। बाबा साहब भुला ही बैठे कि काल ज्यों-ज्यों बीतता, त्यों-त्यों पर्वत होता जाता है और पर्वत पर लात चलाना स्वयं के मेरुदंड को सकट मोल लेना है। सहस्राब्दियों बीतने के बाद भी टिके होने से 'रामायण' भी पर्वत हो चुका। रामायण का उपहास करना खुद को हास्यास्पद बनाना है। हिमालय को 'महाकाल का अट्टहास' यों ही नहीं कह दिया कालिदास ने। बाबा साहब के राम-रामायण-विवेचन में दिक्काल का बोध नदारद है। बुद्धि को लात मारने को ही लक्ष्यसिद्धि समझने लगाना ठीक नहीं।

कुछ भी सवाल से ऊपर नहीं। राम भी नहीं, किंतु विद्वान् का काम दरार बढाना नहीं। उसे समाज को जोड़ना है, तोड़ना नहीं। उसे इसी उद्देश्य से समाज को भी उसके खोखल दिखाना और झूठ छोटकर, सच उजागर करना है। बाबा साहब का चूँकि उद्देश्य ही उलटा है, इसलिए परिणाम भी।

कौशल्या ने राम को श्रुगी से अवैध संसर्ग- द्वारा उत्पन्न किया, इस 'नग्न सत्य' को उजागर करते हुए, बाबा साहब बताते हैं कि- 'अरुचिकर (घिनौने) चरित्र वाले राम के जन्म से संबन्धित और भी घटनाएँ हैं, जिन्हें नकारा नहीं जा सकता। ('हस', जनवरी १९८८)

चूँकि कोष्ठक में 'घिनौने' शब्द के साथ 'हस'-संपादक की ओर से कोई टीप नहीं, इसलिए मानना होगा कि दोनों विशेषण बाबा साहब के हैं और उनके कथन से सिवा इसके और क्या ध्वनि निकाली जा सकती है कि चूँकि वाल्मीकि का स्वयं का पूर्वजीवन अत्यंत अरुचिकर तथा घिनौना था, इसलिए जब दस्युकर्म से किनारा कर काव्यसृजन का निश्चय किया, तो भी कामी राजा दशरथ के राम-जैसे अरुचिकर, घिनौने और अप्राकृतिक-अवैध पुत्र को नायक चुना।

साफ है कि बाबा साहब का उद्देश्य 'रामायण' की मीमांसा नहीं, राम की छीछालेदार है और इस उत्तेजना में वे भूल ही गये कि नाजुक स्थल खोजकर 'चघु' चलाना विद्वान् को शोभनीय नहीं। विद्वान की शोभा सम्यक्ता में है।

कोरा किताबी ज्ञान कठज्ञान है। जैसे दीमक सिर्फ कागज देखती है, काव्य नहीं, वैसे ही कठज्ञानी भी। उसे कुछ चेत नहीं रहता कि साच-विचार और तर्क से शून्य पांडित्य

आखिर सारे समाज के जी का जजाल साबित होता है। बाबा साहब का राम और 'रामायण'-संबंधी कठजान अगर एक सामाजिक सासत की शक्ल में कोठ की तरह फूटा, तो इसके चिह्न पहले ही मौजूद थे। अलबत्ता जो हिंदू धर्म या संस्कृति की दुहाई देना चाहें, उन्हें बाबा साहब के लिखे का जवाब लिखकर ही देना चाहिए, दलबंद विरोध से नहीं। जातिवाद के कोठ से धर्म और संस्कृति को विकृत करने की ही एक स्वाभाविक परिणति है, बाबा साहब अंबेडकर का यह प्रतिशोध। इसका जवाब तर्क से देना जरूरी होगा, घृणा से नहीं।

बहरहाल, देखा जाय अब जरा यह कि 'रामायण' में से राम के प्रसंग में घुना क्या-क्या बाबा साहब ने। लगभग घुनौती देते हुए, उन्होंने कहा- 'क्या राम का व्यक्तित्व सचमुच पूजा के योग्य है ? जो लोग उन्हें ईश्वर की भांति पूजनीय मानते हैं, वे कृपया निम्नांकित तथ्यों पर विचार करें।'

इन निम्नलिखित (या निम्नकोटि के ?) तथ्यों में से एक तथ्य उन्होंने यह भी बताया है कि सीता राम की बहन थी ! उनका कहना है- 'बौद्ध रामायण के अनुसार सीता राघ की बहन थीं। दोनों दशरथ की सतानें थीं। वाल्मीकि रामायण, बौद्ध रामायण में वर्णित सबंध को स्वीकार नहीं करती। वाल्मीकि के अनुसार सीता विदेह के राजा जनक की पुत्री थी, अतः राम की बहन नहीं थी, किन्तु यह स्वयं वाल्मीकि के अनुसार भी मान्य नहीं लगता, क्योंकि वाल्मीकि कहते हैं कि वह जनक की नैसर्गिक रूप से उत्पन्न हुई पुत्री नहीं थी, बल्कि किसी किसान को खेतों में हल जोतते हुए मिली थी, जिसे उसने अपने राजा जनक को भेंट कर दिया और राजा जनक ने उसका पालन-पोषण किया। अतएव ऊपरी तौर पर ही सीता जनक की बेटी कही जा सकती है। बौद्ध रामायण की कथा स्वाभाविक लगती है और आर्यों के वैवाहिक नियमों के विपरीत भी नहीं जाती (आर्यों में भाई और बहन के बीच विवाह मान्य था) यदि वह कथा सत्य है, तो राम और सीता का विवाह कदाचित् आदर्श एवं अनुकरणीय नहीं। ('हस', जनवरी 1988)

आफरीन ! जहां तक राम का जन्म अप्राकृतिक तथा अवैध सिद्ध किया जा सकता हो, वहां तक तो 'वाल्मीकि रामायण' से भी काम चलेगा, लेकिन जहां सीता को राम की बहन दिखाना हो, वहां प्रमाण वाल्मीकि नहीं, 'बौद्ध रामायण' होगा। वाल्मीकि ने अगर सीता को 'जनक की नैसर्गिक पुत्री' नहीं कहा, तो मान लिया जाये कि शायद, दशरथ की नैसर्गिक बेटी बताते-बताते रुक गये।

समझना कठिन है कि 'वाल्मीकि रामायण बौद्ध रामायण में वर्णित सबंध को स्वीकार नहीं करती' कहकर, आखिर कहना क्या चाहा बाबा साहब अंबेडकर ने ? चूंकि बाबा साहब ने बौद्ध धर्म अंगीकार कर लिया, तो इससे 'बौद्ध रामायण' वाल्मीकि रामायण से प्रामाणिक ही नहीं, बल्कि प्राचीन भी हो गई ? पहले त्रेता युग आया कि बौद्ध युग ?

बाबा साहब बौद्ध रामायण की अकालमृत्यु के कारणों पर नहीं जाना चाहते। गनीमत कि बाबा साहब की खोजी दृष्टि यहां तक नहीं गयी कि कन्या-विरक्ति के कारण दशरथ

ने ही सीता को अयोध्या के राजमहल से उठाकर, राजा जनक के खेतों में फिक्का दिया! और बाबा साहब का दावा है कि 'रामायण' से कोई उत्तेजना नहीं मिलती। इससे ज्यादा और कितनी उत्तेजना मिलने से काम चलता बाबा साहब का ?

घृणा का अदम्य विस्फोट है उनकी भाषा में। राम ही नहीं, वाल्मीकि के प्रति भी, जिन्होंने बौद्ध रामायण की ही भाँति, सीता को राम की बहन सिद्ध करने से इन्कार कर दिया। साफ लगता है कि बाबा साहब के चित्तदाह को गहरी ठंडक पहुंचती, अगर वाल्मीकि ने भी, बौद्ध रामायण के तथ्य की पुष्टि करते हुए, सीता को राम की जुड़वा बहन सिद्ध कर दिया होता।

बाबा साहब का कहना है- 'राम के चरित्र का एक गुण यह भी बताया जाता है कि वह एक पत्नीव्रती थे। समझ में नहीं आता कि यह धारणा कैसे बनी ? वास्तव में इसका कोई भी आधार नहीं मिलता। यहां तक कि स्वयं वाल्मीकि राम की कई पत्नियां होने का सदर्भ देते हैं (अयोध्याकांड, सर्ग-111 श्लोक -१-२) इन सबके अलावा उनकी अनेक उपपत्नियां भी थीं। इस मामले में वे अपने धोषित पिता दशरथ के सच्चे पुत्र थे, जिनकी ऊपर बताई गयी तीन ही नहीं, अनेक रानिया और भी थीं। ('हंस', जून १९८८)

सर्ग-३ क्या, पूरे अयोध्याकांड में वाल्मीकि ने राम की कई पत्नियां होने का कोई उल्लेख कहीं नहीं किया है, अन्यथा लिखना भूलते नहीं वाल्मीकि कि सिर्फ पटरानी सीता ने ही वन साथ जाने का निश्चय किया (यह तो बाबा साहब ने भी दावा नहीं किया कि वन जाते समय राम अपनी सारी पत्नियों-उपपत्नियों को त्यागपत्र थमा गये थे !) लगता है, बाबा साहब ने 'बौद्ध रामायण' के सर्ग-३ को (अगर ऐसा सदर्भ वहां हो) वाल्मीकि रामायण में प्रक्षिप्त करके, अपनी वांछा को तुष्ट करना चाहा है !

मोहग्रस्त बाबा साहब ने राम को भी दशरथ ही मान लिया और इसी से इन्हें कई पत्नियों-उपपत्नियों वाला (यानी 'धोषित पिता का सच्चा पुत्र ! ') करार दिया ! हालाँकि व्यक्ति की गुणवत्ता सिर्फ पत्नीव्रती होने, या नहीं होने से आंकने की वस्तु नहीं, फिर भी यहां बताना जरूरी होगा कि राम के एकपत्नीव्रती होने को लेकर, वाल्मीकि ने क्या कहा है। उत्तरकांड के सर्ग-९९ श्लोक ७-८ में उनका कथन इस प्रकार है -

'राम ने सीता के सिवा किसी दूसरी स्त्री से विवाह नहीं किया यहाँ में जब धर्मपत्नी की उपस्थिति आवश्यक हुई, रघुनंदन ने सीता की स्वर्ण-प्रतिमा प्रतिष्ठित करके कार्य पूरा किया।'

समझना मुश्किल है कि इससे और कितना ज्यादा स्पष्ट आधार चाहिये था बाबा साहब को ?

अलबत्ता सीता के पृथ्वी-प्रवेश के लिए 'बौद्ध रामायण' तक की दौड़ नहीं लगाते बाबा साहब। यहां तो वाल्मीकि ने जैसे उनकी मनोवांछा को ही वाणी दे दी है। सीता के पृथ्वी की गोद में समा जाने के वर्णन को रामायण में से मनमाना खिलौना पा गये बच्चे की-सी उत्फुल्लता में उद्धृत करते हुए, बाबा साहब बताते हैं- 'इधका अर्थ यह हुआ कि अपने साथ

ऐसा पाशविक व्यवहार करने वाले राम के साथ रहने की बजाय, सीता ने आत्महत्या को ही चुना था।'

'आत्महत्या' शब्द का प्रयोग बाबा साहब ऐसे करते हैं, जैसे सीता छाती में छुरा घोंपने के बाद राम को धिक्कारती धरती में समा रही हो, जबकि वैदेही कहती है- 'यदि मैं मन-वचन-क्रिया तीनों से केवल श्रीराम की आराधना करती हूँ।'

बाबा साहब के उत्साह से तो लगता है कि अगर कहीं सीता धरती में न समा करके, राम के साथ अयोध्या लौट आयी होती, तो वे सीता को भी कभी क्षमा नहीं कर पाते।

राम को कलकित-लाकित करने का प्रत्येक अवसर बाबा साहब के चित्त को दैवी वरदान की-सी उत्फुल्लता से भर देता है। यह ध्यान उन्हें रहता ही नहीं कि वाल्मीकि ने राम को पत्नी-वियोग के लिए अभिशप्त मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में ही परिकल्पित किया था।

वैदेही साक्षात् सच है और उसके पृथ्वी में समाने के दृष्टांत से वाल्मीकि का इंगित स्पष्ट कि कैसा भी चक्रवर्ती राज्य सत्य के सामने कुछ नहीं !

वाल्मीकि मादा क्रोध की वेदना के साक्षी हैं। उन्हें वेदना और विषाद सारे राज्य-वैभवों से ऊपर है। विषाद ही मनुष्य को घेतना के क्षितिजांतों तक की महायात्रा में समर्थ करता है। दस्यु रत्नाकर से आदि महाकवि तक की जीवनयात्रा के सारतत्त्व को 'रामायण' में अंतर्गृहीत कर दिया वाल्मीकि ने। 'रामायण' के राम में वाल्मीकि की आत्मा का तेज अंतर्लपित है। ऐसा कालजयी पात्र किसी युगान्तरकारी महाकवि की सृजनात्मक मेधा में से ही प्रकट हो सकता है और बाबा साहब हमें समझा रहे हैं कि राम-जैसा अरुचिकर, धिनौना, लम्पट और क्रूरकर्मा खोजना कठिन है !

राम के व्यक्ति और राजा रूप को लेकर भी बाबा साहब ने बही 'मीठ-मीठा गप्प और कड़वा-कड़वा थू' वाली पद्धति अपनायी है। सुग्रीव-बाली-प्रसंग की मनोवांछित व्याख्या के बाद, तुरता शैली में, रावण-संहार तक की कथा बताते हुए, बाबा साहब फमति हैं-

'रावण को मारने के बाद उनका पहला कर्तव्य बनता था सीता के पास जाना, लेकिन वे ऐसा नहीं करते। वे सीता से अधिक राज्याभिषेक में रुचि दिखाते हैं। राज्याभिषेक के बाद भी वे स्वयं नहीं जाते।' बल्कि हनुमान को भेजते हैं।

राम कोई फिल्मी हीरो नहीं थे कि रावण के भूलुंठित होते ही, 'मैंने रावण को मारा तुम्हारे लिए !' गाते हुए, अशोक वाटिका की तरफ दौड़ लगाकर, अभिताम बच्चन की शैली में सीता को आलिंगन में कस लेते ! आश्चर्य कि संविधान के सर्वोच्च शिल्पी कहे गये बाबा साहब को इतना भी होश नहीं कि राजधर्म का ज्ञाता होने के नाते, राम को अपने प्रत्येक कार्य-कलाप पर दृष्टि रखनी है। लंका अयोध्या का उपनिवेश नहीं। राजनय का तर्क है कि पहले विभीषण का राज्याभिषेक हो, तब अशोक वाटिका में उनकी अनुमति से कोई प्रवेश करे और यही राम करते हैं।

सीता के लांछनों के प्रसंग में भी जिस तरह सारे पूर्वापर तर्कों को ताक पर रखते हुए

राम की अधमता और क्रूरता सिद्ध करनी चाही बाबा साहब ने, उससे भी कुछ सिद्ध नहीं होता, क्योंकि 'रामायण' का तर्क सिर्फ एक बनता है। या तो वाल्मीकि को प्रमाण माना जाय, या 'रामायण' की किसी भी बात को प्रामाणिक नहीं माना जाय। बाबा साहब के रुख से स्पष्ट है कि वो स्वामी दयानंद सरस्वती के 'सत्यार्थ प्रकाश' की नकल में राम का मूर्तिध्वंस चाहते हैं, लेकिन 'रामायण' बाइबिल-कुरान-इंजील की तरह, धर्मग्रंथ नहीं। न धर्मोपदेशों की पोटली है। बाबा साहब का उद्देश्य हिंदु धर्म-विखंडन था, तो इस नेक काम के लिए उन्हें 'मनुस्मृति' की तरफ जाना चाहिए था। 'रामायण' महाकाव्य है और महाकाव्य हाथ साफ करने की वस्तु नहीं हुआ करते।

लगता है, बाबा साहब भूल ही गये कि रामायण धर्मग्रंथ या इतिहास नहीं, इनसे बड़ी चीज है। महाकाव्य में, खास तौर से चरित्र के सवाल पर, उसका रचयिता ही प्रमाण हुआ करता है। वाल्मीकि को प्रमाण मानने का तर्क होगा- राम के नर और नारायण, दोनों रूपों को मानना। महाकाव्य के सारतत्त्वों को उसके पूरे रचनावितान में ही खोजा जा सकता है, किसी एक कोने से अपने मतलब को पर्याप्त सामग्री ले उड़ना ठीक नहीं।

'रामायण' मनुष्य के लौकिक और अलौकिक, दोनों ध्रुवों की परिकल्पना का महाकाव्य है, छिद्रबुद्धि से उसका भाष्य करना स्वयं की बुद्धि का भट्ठा बिठाना है।

सीता की अग्निपरीक्षा के प्रसंग में, वाल्मीकि बताते हैं कि- 'राजा राम का हृदय उस समय लोकापवाद के भय से विदीर्ण हो रहा था।'

सीता के समीप पहुँचते ही राम कहते हैं- 'जैसे आँख के रोगी को दीपक की ज्योति नहीं सुहाती, तैसे ही इस समय तुम भी मुझे प्रिय नहीं लग रही हो।'

आश्चर्य कि राम के द्वारा स्वयं को आँख का रोगी और सीता को दीपक की ज्योति कहे जाने की वेदना बाबा साहब अंबेडकर को स्पर्श तक नहीं कर पाती। उनका ध्यान इस तथ्य की ओर भी गया ही नहीं कि जब सीता राम से रोषपूर्वक कहती है- 'जैसे कोई नीच व्यक्ति किसी नीच कोटि की स्त्री से नहीं कहने योग्य बातें भी कह डालता है, उसी तरह आपने भी मुझे लांछित किया है।' (युद्धकांड सर्ग-११६ श्लोक-५)

तब भी राम चुपचाप धैर्य से सुनते और सहते हैं। वाल्मीकि ने अग्नि-परीक्षा के लिए चिता तैयार करने के आदेश से अमर्ष में भरे लक्ष्मण के श्रीराम के हार्दिक अभिप्राय को समझते हुए शांत हो जाने का उल्लेख भी किया है। यही नहीं, उन्होंने सीता के अग्निदाह को अपलक देखते राम को 'धर्मात्मा राम' कहकर संबोधित किया (युद्धकांड सर्ग ११७ श्लोक।)

वाल्मीकि के राम आर्तनाद करते जनों के बीच, वेदना के दावानल को सीता की ही भांति वरण करते 'धर्मात्मा राम' हैं, बाबा साहब अंबेडकर के मनोवांछित क्रूर और पापात्मा राम नहीं। बाबा साहब कहते हैं- 'स्वाभाविक ही था कि सीता ने राम को अधम और नीच कहा।' ('हंस', जनवरी, १९८८ पृष्ठ-१२)

कमाल है कि नीच और अधम कहना तो साफ सुनाई दे गया, बाबा साहब को,

लेकिन लोक-लोकातरों और जन्म-जन्मातरों तक श्रीराम की ही अद्वांगिनी रहने की प्रार्थना के स्वर बाबा साहब के कर्ण-कुहरों में कभी नहीं पड़े । वाल्मीकि ने सीता के वरण और हरण से लेकर उन पर लोकलाह्न, उनके वनत्याग तथा भूमि-प्रवेश का एक पूरा दृश्य- पटल निर्मित किया है, इसमें से मनमाने ढंग से आधी-अधूरी कतरनों को ले उड़ना ठीक नहीं। वस्तु को प्रसंगच्युत करना ही झूठ रचना है।

वाल्मीकि कहते हैं - 'महात्मा श्रीराम का अधिकांश समय धर्म के पालन में बीता।' (उत्तरकांड सर्ग ६६ श्लोक ॥)

बाबा साहब दावा रखते हैं कि शम्बूक-वध को छोड़, राम का सारा राज्यकाल मदिरा में मदमत्त, उरगा सुदरियों के सग विलास में बीता।

वाल्मीकि ने कहा कि राम ने अपने हाथों से पवित्र पेय मधु सीता जी को पिलाया (उत्तरकांड सर्ग ४२, श्लोक १८) और कि-

'उस समय श्रीराम सीता के साथ सिंहासन पर ऐसे विराजमान थे कि अपनी तेजस्विता में 'अरुधती' के साथ बैठे महर्षि वसिष्ठ की सी शोभा थी उनकी।' (उत्तरकांड सर्ग ४२ श्लोक २४)

लेकिन बाबा साहब ने कुछ ऐसा दिखाया है, जैसे राम, पवित्र पेय की जगह, ठरें की बोतल घटाकर उन्मत्त हुए पड़े हों।

सीता की अग्नि-परीक्षा के संदर्भ में वाल्मीकि हमें बताते हैं कि- धर्मात्मा राम ने अग्निदेव को संबोधित करके कहा कि- 'ये (सीता) मुझसे उसी तरह अभिन्न हैं, जैसे सूर्य से उसकी प्रभा।' लेकिन बाबा साहब को तो सिर्फ उतना ही उठाना है, किसी भी प्रसंग में जिससे उनकी उद्भ्रांत तथा घृणाकुल मनोदशा को परितोष मिले।

जिसे बाबा साहब क्रूरकर्मा लम्पट सिद्ध करने में ही मनोरथसिद्धि दूढ़ रहे हैं, उन्हीं धर्मात्मा राम के बारे में वाल्मीकि ने सीता की अग्नि-परीक्षा के उपरांत ही, समस्त देवगंधर्वगणों के मुंह से ये उद्गार कहलवाये हैं- 'हे राम, आप संपूर्ण विश्व के सृष्टा, ज्ञानियों में श्रेष्ठ, तीनों लोकों में सर्वव्यापी और आविर्कर्त्ता स्वयंप्रभु हैं। आप श्रेष्ठतम परमात्मा तथा विराट पुरुष नारायण हैं। आपके नेत्रों का बंद होना ही रात्रि और खुलना ही दिनारंभ है। आप पुराण-पुरुषोत्तम हैं। आपका दर्शन और स्तवन, दोनों अमाघ हैं।

ऊपर के उद्धरण से हम यह सवाल उपस्थित करना चाहते हैं कि राम की अभ्यर्थना में कहे गये को एक तरफ छोड़कर, सिर्फ निंदा में कहे गये कथनों को ही प्रमाण मानने का तर्क क्या होगा ?

वाल्मीकि ने राजा के रूप में भी राम को नवाबी छांटते कहीं नहीं दिखाया। बाबा साहब ने वाल्मीकि रामायण का कौन-सा पाठ पढ़ा, कहना मुश्किल है। गीता प्रेस, गोरखपुर, वाले संस्करण के उत्तरकांड सर्ग ४२ के श्लोक १ या ८ में कहीं वैसा वर्णन नहीं, जो बाबा साहब ने उपस्थित किया है। उनके अनुसार तो आधा दिन भी धार्मिक चर्या में आधे मन से ही बिताते हैं राम, जबकि वाल्मीकि बताते हैं कि राम का अधिकांश जीवन प्रजा-कल्याण में बीता। सवाल है कि 'रामायण' के मामले में प्रमाण किसे माना जाय-

वाल्मीकि, या कि बाबा साहब को ?

रामराज्य का विशद वर्णन यहां उद्धृत करने की जरूरत नहीं। बाबा साहब नहीं बताते कि एक कामुक, क्रूरकर्मा और राजका से सर्वथा उदासीन, मद्यधुत्त हो अंत पुर में लोट लगाने वाले शासक के राज्य में ऐसा लाकराज्य संभव क्योंकर हुआ। वाल्मीकि ने कहा है-

रामा रामो राम इति प्रजानाम भवत्कथा रामभूतं जगद्भूतं रामराज्यं प्रशासिति
(युद्धकांड सर्ग १२८ श्लोक-१०२)

बाबा साहब सिर्फ शबूक-वध का प्रसंग उठाते हैं- राम के द्वारा निषादराज गुह को अपनी आत्मा के समान मानने का जिक्र नहीं करते ! राम लंका- विजयोपरांत अपने पिता दशरथ से एकमात्र प्रार्थना कैकयी तथा भरत के प्रति शाप वापस लेने की करते हैं- बाबा साहब का राम की इस करुणा का उल्लेख व्यर्थ है। मानवीय करुणा से उनका तात्पर्य भावविगलितता में है, जबकि वाल्मीकि राम के निमित्त से बताना चाहते हैं कि जो जितना पुरुषात्तम, उसका ताप भी उतने ही बड़े होंगे। राज्याभिषेक के मुहूर्त्त में तापसजीवन का वरण और फिर राज्याग्रेष्ण के साथ ही लोकापवाद की यातना- राम बार-बार धुंधग्रस्त हात मूर्य हैं। उनका विषाद महाकाव्य का विषाद है। 'रामायण' का सारा काव्य-वितान सीता-राम ' पर टिका है। जनमानस में सीताविहीन राम की कोई स्मृति नहीं। बाबा साहब ने 'रामायण' की उस महाकाव्यात्मक संवेदना को पूरी तरह आँखाओझल कर दिया है, जो सीता को परित्यक्ता नहीं, बल्कि अनंतकाल तक की अर्द्धांगिनी बना देती है। हिन्दू समाज के लिए सीता-राम अविच्छिन्न हैं, तो इसका भी कारण होगा जरूर।

जहां तक 'रामायण' की सामाजिक प्रामाणिकता का सवाल है, समाज मूल्य-रूप में कुछ भी बहुत छान-फटककर ही बढ़ा रखता है। शबूक-वध राम के धीरोदात्त कार्य का प्रमाण कभी नहीं बन पाया। सीता-परित्याग के प्रसंग से 'रामायण' को मूल्य-रूप में मान्यता कभी नहीं मिली। अपकर्म महापुरुषों के द्वारा किये जाने पर भी अपकर्म ही रहता है।

देखा जाय, तो शबरी और निषादराज गुह के प्रति राम का जो आत्मभाव दिखाया है वाल्मीकि ने, उसे देखते शबूक-वध जगलिया की छवि लगता है। यह पूरा प्रकरण है भी सपाट। यह भी आश्चर्य की बात है कि वैदेही के परित्याग के प्रकरण में धोबी भद्र की काली करतूत का कोई जिक्र नहीं करते बाबा साहब ! उनकी आंख निरंतर सिर्फ राम के प्रवाद खोजने में लगी रहती है।

बाबा साहब की जातिवादी घेतना जितनी उद्वीग्न, सामाजिक समझ उतनी ही धुंधली है। समाज का तर्क, सार-सार को बटोरकर, थोथे को उड़ा देने का रहता आया। बाबा साहब का जोर सार को धूरे पर फेंक, कूड़ा इकट्ठा कर रखने में है।

गरीबी और प्रताड़ना की धूल में से प्रतिष्ठा के ऊर्ध्व शिखरों तक के अथक पुरुषार्थ से दीप्त विद्वान् का यह विकृत पांडित्य अत्यंत दुःखद है क्योंकि जिस तर्कप्रणाली से बाबा

साहब ने राम को नीच, धिनौना और लपट सिद्ध करना चाहा है- ईसा, मुहम्मद साहब, बुद्ध और गांधी को भी लाञ्छित कर सकते हैं लोग।

उदात्त पर एकतरफा मिट्टी डालना जाहिलों का काम हुआ करता है। विद्वान वह है, जो दोनों छोर उजागर करे। बाबा साहब हमें कुछ नहीं बताते कि राम के लपट सिद्ध हो जाने से कौन-सा महान् साजाजिक उद्देश्य पूरा हो जायेगा। अपने अमर्ष और असंतुलन में उन्हें यह चेतना कभी रहती ही नहीं कि सामुदायिक सद्भाव की पहली शर्त दूसरों के संवेदनों तथा विश्वासों पर घाट नहीं करना है। सवर्ण होने का दावा रखने वाले कट्टरपंथी जातिवादियों के जवाब में अवर्णवाद का जहर घोलना, जाने-अनजाने, वर्णसंघर्ष की भूमिका रचना है। जबकि जरूरत जातिवादि कट्टरपंथियों को हाशिये पर करने की है, पूरे हिंदू समाज को जाति-वर्णवाद की दावाग्नि के हवाले करने की नहीं।

हम फिर कहेंगे कि 'रामायण' धर्मग्रंथ नहीं, महाकाव्य है और महाकाव्य मानव-चेतना के दोनों छोरों तक जाता है। बाबा साहब ने सिर्फ एक छोर खेंगाला और वह भी धार्मिक प्रतिशोध की उत्तेजना से व्याकुल व्यक्ति के रूप में, यह उन-जैसे मनीषी को शोभनीय नहीं ही कहा जा सकेगा।

लगता है, जातिवादी कट्टरपंथियों की कुत्सा के प्रति विक्षोभ में, उन्हें बिल्कुल ध्यान ही नहीं रहा कि महाकाव्यों का भाष्य इस तरह की कठबुद्धि से संभव नहीं। 'रामायण' आदि ही नहीं, सनातन महाकाव्य है। लोकाचार, राजधर्म, मानव-संघर्ष और सौंदर्य का ऐसा महाकाव्यात्मक सधान दुर्लभ है। अफसोस कि बाबा साहब की नजर, राम-रामायण-मीमांसा के मामले में, कांख में का मैल खोजने तक ही सीमित रही। 'रामायण' का ऐसा मखौल मतिभ्रंश के सिवा और किस बात का सूचक माना जाये ? क्योंकि अगर हम 'रामायण' की मीमांसा, या उसके भाष्य के मामले में बाबा साहब को विद्वान् मानें, तो वाल्मीकि को मूर्ख मानना जरूरी होगा।

रामचरितमानस में बाबा तुलसीदास ने कहा है- जाकी रही भावता जैसी। प्रभु मूरति तिन देखी तैसी।।

बाबा साहब के प्रति गहरे आदर के बावजूद, इतना कहना होगा कि काव्य का अर्थ बहुत दूर तक जाता है। और जिसका जैसा मतव्य, वैसा ही राम उसे प्राप्त हाना है। जबकि राम कोई मात्र धार्मिक पैगम्बर नहीं, बल्कि भारतवर्ष की ऐसी महान महाकाव्यात्मक उपलब्धि हैं, जिसमें भारत के आध्यात्मिक ही नहीं, बल्कि सामाजिक और भौगोलिक तक सारे सारतत्व अंतर्गृहित देखे जा सकते हैं। राम भारतीय स्मृति की महानतम धरोहर हैं। वाल्मीकि ने उन्हें व्यक्ति नहीं, बल्कि व्यक्ति और विराट के सेतु के तर्क से रचा है।

रामायण पर चली कलमकटारी

इलाहाबाद

१६ अगस्त, १९८८

राजेन्द्र भाई,

'हस' के संयुक्तांक १९८८ में आपका लेख 'सत्ता का द्वन्द्व या द्वन्द्वरात्मकता का सत्य' पढ़कर हतप्रभता ही अनुभव की है।

'रामायण'— मानस वगैरह को लेकर पहले कभी बहस में नहीं पड़ा, क्योंकि इसके लिये विषय का गहरा ज्ञान जरूरी है, जो पास नहीं। इधर हिन्दी के अनेकानेक लेखकों को 'रामायण' पर एकाएक गहरी बेचैनी के साथ लिखते देखा, तो ध्यान गया। पढ़ने और समझने का एक अवसर पा गये होने के अहसास में सचमुच ध्यान से देखने की कोशिश रही कि देख, 'रामायण' पर हमारे इन प्रतिष्ठित लेखकों का कहना क्या है।

दूरदर्शन पर 'रामायण' के प्रसारण ने एक ऐसा अवसर उपस्थित किया, जिससे कि पत्रिकाओं और अखबारों में प्रतिक्रियाओं का सिलसिला शुरू हुआ। चूँकि हिंदू-मुस्लिम दलों के मदर्भ में हिंदू साम्प्रदायिकता का सवाल पहले से ही बहस के केन्द्र में था, ऐसे में एक ऐसी कृति के दूरदर्शन पर प्रसारण को लेकर प्रतिक्रियाएँ होना स्वाभाविक था, जो कि हिंदू समाज का मेरुदण्ड मानी जाती रही है। जिसमें कि निरक्षर से लेकर विद्वानों तक को आकर्षित करने की शक्ति रही है। जो देश-काल की छलनियों में छनते-छनते, एक व्यापक जगह में जा पहुँची अस्मिता और स्मृति की एक ऐसी धरोहर बन गयी है कि इसके निमित्त जे उसकी अंतरात्मा की धड़कनें मापी जा सकती हैं।

लेखक से अपेक्षा की जाती है कि एक वही है, जो कि किसी भी वस्तु को प्रचलित, स्थापित या मान्यता-प्राप्त नहीं, बल्कि प्रासंगिक होना, या नहीं होने के तर्क से देखेगा। ऐसे में 'रामायण' को लेकर, इसके प्रति धार्मिक अनुराग अथवा आस्था रखने वाले लोगों तथा लेखकों की प्रतिक्रिया के समान होने की अपेक्षा उचित नहीं हो सकती थी। संयोग से भारतीय चिंतन में कुछ भी तर्क से ऊपर नहीं। यहाँ असहमति को कुफ्र नहीं माना गया है।

अनेकानेक विकृतियों के बावजूद, आज भी यह खुलापन उपस्थित है। और जब तक है, तभी तक है स्वस्ति भी।--- किन्तु क्या यह आवश्यक होना चाहिये कि बहस का खुलापन एक ऐसे मनमानेपन की शक्ल ले ले, जहां उद्देश्य वस्तु को विकृत अथवा विरूपित करने के सिवा और कुछ दिखाई ही नहीं पड़े ?

‘रामायण’ की कथा को जिस प्रकार राज्य के लिये हत्या-प्रतिघात की सामंती प्रवृत्ति की एक सामान्य कहानी बताया है आपने, और यहा तक अनुमान की छूट ली है कि राम को लव-कुश के द्वारा गला दबाकर पानी में डुबो (या आत्महत्या को बाध्य कर) दिया गया था, इससे कई सवाल सामने आते हैं। सबसे पहले यही कि उद्देश्य क्या है ? यानी कि ‘रामायण’ की कथा को एक निहायत बर्बर तथा घटिया सामंती कहानी करार देकर, आप कहना और करना क्या चाहते हैं ?

‘रामायण’ को लेकर हिंदू समाज के संवेदनात्मक लगावों से आप भलीभांति परिचित हैं। जाहिर है कि पहले पुत्रों या रानियों में से ही किसी के द्वारा दशरथ और फिर, इसी ‘पैलेस इट्रीज’ की तार्किक परिणति के तौर पर, लव-कुश के द्वारा राम-लक्ष्मण की हत्या किये गए होने का शोशा छोड़ते हुए आप हिंदू समाज के संवेदनों पर पूरी ताकत से प्रहार करना चाहते हैं- और इसीलिये यह सवाल अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाता है कि उद्देश्य क्या है ?

यह मानना तो गलत होगा कि आप-जैसे पहली कतार के लेखक को विकृतियों और संवेदनों के बीच का अंतर पता नहीं --- लेकिन जहाँ तक इस लेख का सम्बन्ध है, इसमें हिंदू समाज की विकृतियों की जगह, उसके संवेदनों पर कोड़े फटकारना ही आपका मुख्य उद्देश्य जान पड़ता है ; क्योंकि आपके लेख में कहीं किसी एक जगह भी ‘रामायण’ की सांस्कृतिक या सामाजिक प्रासंगिकता अथवा हिंदू समाज के जातीय संस्कारों में उसके सकारात्मक प्रतिलिम्बन का कोई उल्लेख कतई नहीं और कहीं नहीं है।

विकृति के निराकरण की पहली शर्त सुकृति की पहचान है। खराब की जगह सही दाँत को उखाड़ या रूण की जगह स्वस्थ गुँदे को निकाल फेंकने का काम वही खतरनाक डाक्टर करता है, जो विकृत और स्वस्थ की पहचान तय करने से ज्यादा, संझसी और छूरी-कैंची चलाना जरूरी समझता हो। लेखक जब किसी कृति के सांगोपाग अध्ययन और विश्लेषण की जगह, उसके अंग-भंग पर उतर आता है, तो उसकी दृष्टि ‘घोड़ा डाक्टर’ से भी बदतर हो जाती है। लेखक से तो यह अपेक्षा की जाती है कि वह अगर किसी महान् कृति पर लिखेगा, तो उसकी अंतर्वस्तु और सारतत्वों को हमारे निमित्त इतना पारदर्शी बना देगा कि हम भी गहरे उतर सकें। हमारी भी समझ विकसित हो सके। हम भी अनुभव कर सकें कि कैसे कोई महान् कृति मनुष्य की चेतना के समग्र क्षैतिज वितान को हमें भी गोघर बना देती है। अफसोस कि आपका लेख ‘रामायण’ के बारे में सिवा ‘घंघुविक्षेप’ (घोघबाजी) के और कुछ नहीं। लेखक को जरूरी है कि अगर वह पृथिवी पर लिखने बैठे, तो सिर्फ कीचड़ ही नहीं फतफटाये।

उजागर करे। हालाँकि प्रकट में आप भी अतीत के वर्तमान पर हावी होने के दुष्परिणामों की ओर ध्यान आकर्षित करते दिखाई पड़ना चाहते हैं, लेकिन थोड़ा-सा ध्यान से देखते ही स्पष्ट हो जाता है कि यह एक निहायत ही चालाक किस्म की कोशिश-मात्र है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति सदुद्देश्य के लिये झूठ का सहारा कभी नहीं लेगा। झूठ एक भयानक विकृति है और यह शुद्ध सफेद झूठ कि लव-कुश ने राम-लक्ष्मण को या तो गला दबाकर सरयू में डुबो और या आत्महत्या को बाध्य कर दिया था। यह खुद के विकृत अनुमान को लोगों की संवेदना से ऊपर ले जाना है। आप दावा करना चाह सकते हैं कि सरयू में 'आत्मविसर्जन' की बात तो स्वयं वाल्मीकि स्वीकार करते हैं^१ आपने सिर्फ इतना अनुमान और लगाया है कि चूँकि राज्यसत्ता के संघर्ष में पिता-द्वारा पुत्र, भाई-द्वारा भाई अथवा पुत्र-द्वारा पिता की हत्या ज्यादा प्रामाणिक हुआ करती है, इसलिए 'आत्मविसर्जन' वाली बात तो मिथ्यालेपन-मात्र है। यानी आपने और कुछ नहीं किया, बल्कि वाल्मीकि के द्वारा वास्तविकता पर लगाई गई पलोथन को झाड़ दिया है।

कुछ भी कह डालने में कोई हर्ज नहीं, लेकिन बताना जरूरी होगा कि कहे की गवाही क्या है? रोमिला थापर जब 'रामायण'-सम्बन्धी शोध के सिलसिले में बताती हैं कि भिन्न-भिन्न रामायणों, अनुग्रंथों या जनश्रुतियों में रामकथा के कौन-कौन से रूप प्रचलित हैं- और कि अनुमानत इनके आधार क्या हो सकते हैं तब उद्देश्य और कार्य के बीच कोई विसंगति नहीं। लेकिन जब आप अतीत के वर्तमान की सच्चाई बनने के खतरों के प्रति सावधान करने की आड़ लेकर, रामकथासम्बन्धी स्वयं के अनुमानों को प्रकट करते हैं, तो सिवा १८-मानसिक-बौद्धिक विकृति के और कुछ आभासित नहीं होता, क्योंकि आपके घोषित उद्देश्य और कार्य के बीच कोई संगति नहीं है। आप अपने स्वतः स्फूर्त अनुमानों के लिए किसी तरह के साक्ष्य की कोई जरूरत ही नहीं अनुभव करना चाहते और जान-बूझकर एक ऐसा झूठ खड़ा करते हैं, जो कि वैचारिक खुलेपन नहीं, बल्कि स्वच्छंद मनमानेपन का सूचक है।

हिंदू समाज ने 'रामायण' का सारतत्त्व इस रूप में ग्रहण किया कि राज्यसत्ता ही सब-कुछ नहीं, बल्कि इससे कहीं ऊचे वो नैतिक मूल्य हैं, जो पारम्परिक, पारिवारिक तथा अन्य सामाजिक सम्बन्धों अथवा मूल्यों के रूप में मान्य होते चले आये हैं।--- और आप बता रहे हैं कि 'रामायण' का सारतत्त्व हत्या की राजनीति है, राजनीति की नैतिकता नहीं। इसका मतलब हुआ, पिछले हजारों वर्षों तक हिंदू समाज में कोई भी व्यक्ति इतना बुद्धिमान और खोजी नहीं हुआ, जो कि 'रामायण' की ऐसी प्रामाणिक अथवा ऐतिहासिक व्याख्या कर पाता।

यानी 'रामायण' में वो सारे नैतिक-सामाजिक मूल्य कहीं वास्तव में थे ही नहीं, जिनकी कि हिंदू समाज के द्वारा कल्पना कर ली गई। और अब पहली बार 'रामायण' की अतर्वस्तु का एक प्रामाणिक आलेख हमें 'द्वन्द्वत्मकता का सत्य'^१ के द्वारा सुलभ हो

रहा है। लक्ष्मण ने राम के वनवास पर कुपित होकर 'हनिष्ये पितर वृद्ध' कह दिया, तो यह प्रमाण हो गया कि जगल जाते में दशरथ की हत्या की व्यवस्था करते गये। जब अनुमान से ही तय होना हो, तो इतना और जोड़ लेने में या हर्ज था कि दरअसल दशरथ की हत्या तो लक्ष्मण ने तभी वनवास पर जाते समय कर दी थी, वो तो सामंती कूटनीति या 'पैलेस इट्रीज' के तहत लाश को कई दिनों तक छिपाये रखा गया और मृत्यु-घोषणा सुमत के लौटने के बाद ही की गई।

इतना मान लिया जाना चाहिए कि यदि आपके लेख में के तथ्य सच हैं, तो तय है कि आपने हिंदू जाति को हजारों वर्षों के प्रचलित झूठ से उबार लिया है, क्योंकि इसमें कोई सन्देह नहीं कि झूठ के ऊपर पड़े धार्मिक-सांस्कृतिक आवरण निहायत खतरनाक हो सकते हैं और जितने लम्बे समय तक बने रहें, उतनी ही गहरी क्षतियाँ अवश्यम्भावी हैं। लेकिन सवाल फिर यही कि क्या वास्तव में झूठ का पलोथन ही झाड़ा गया है? झूठ नहीं, बल्कि उसकी पलोथन को झाड़ने का काम हुआ है, इसके लिए बताना जरूरी होगा कि वाल्मीकि ने ऐसा क्यों किया? यानी पहले रानियों या पुत्रों में से किसी के द्वारा राजा दशरथ और फिर 'पैलेस इट्रीज' की स्वाभाविक परिणति के तौर पर लव-कुश के द्वारा राम की हत्या की वास्तविकताओं पर पर्दा डालने के पीछे वाल्मीकि का इरादा क्या था? लेकिन पहले तो तय करना जरूरी होगा यह कि 'रामायण' को हम इतिहास मानें, महाकाव्य या कि धर्मग्रंथ?

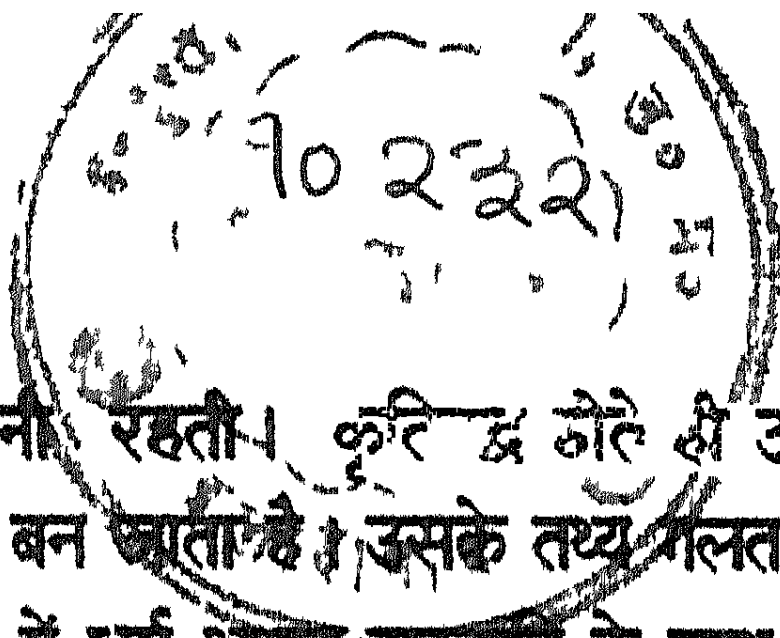
आप कहते तो जरूर हैं कि- 'आम भारतीय मानस न जाने कब से व्यक्तिगत और सामूहिक रूप में राम-कथा के साथ सांस लेता रहा है। वह उसका संस्कार है। इतिहास चाहे न हो, संस्कृति जरूर है।'

लेकिन आपके लेख से अत तक स्पष्ट नहीं होता कि 'रामायण' को आप मानते क्या हैं। पूरी तरह स्पष्ट नहीं किये जाने के कुछ स्पष्ट कारण होंगे जरूर। उनमें से एक यह सावधानी भी हो सकता है- चूंकि 'रामकथा के तीनों धरातल 'इतिहास, संस्कृति और मुक्तिदाता धर्मग्रंथ' एक-दूसरे में गड़मड़ हैं और आपस में संक्रमण करते रहे हैं।

[राजेन्द्र यादव 'हंस'- संयुक्तांक १६८८]

दूसरा यह चतुरता कि कुछ भी स्पष्ट तौर पर मानने से हाथ बंध जायेंगे। तब इतिहास कहने पर ऐतिहासिक साक्ष्यों की जरूरत होगी। महाकाव्य मानने पर भावनात्मक विश्वासों और आस्था पर चोट करने के अवसर हाथ से निकल जायेंगे।-- और 'धर्मग्रंथ' मानने पर सिद्ध करना होगा कि जो 'रामायण' को नहीं माने, वह हिंदू नहीं रह सकता। जबकि चोट सामाजिक कुरीतियों नहीं, बल्कि धार्मिक विश्वासों पर करनी है।

चूंकि 'रामायण' को इतिहास, धर्मग्रंथ या 'महाकाव्य' मानते ही हाथ बंध सकते हैं, इसलिए 'रामायण' के इतिहास, संस्कृति और धर्मग्रंथ तीनों धरातलों पर परस्पर सक्रमित होते रहने की चतुरोक्ति की आड़ लेना ठीक नहीं, क्योंकि कृति 'निर्धारित वस्तु' है। ऐसे समय बिल्कुल हो सकते हैं, जबकि इतिहास, संस्कृति और धर्म के सारतत्व आपस में टकरा या घुल-मिल रहे हो, लेकिन संक्रमण की यह प्रक्रिया किसी कृति में ज्यो-की-त्यो



चलन में नहीं बनी रहती। कृति छूटते ही उसमें प्रयुक्त इतिहास कृति की अतर्वस्तु का एक स्थिर तत्व बन जाता है। उसके तथ्य गलत या सही हो सकते हैं, लेकिन ये कृति- या कृति के पाठ- में धर्म अथवा सस्कृति के साथ सक्रमण की प्रक्रिया में नहीं रहते, क्योंकि समाज के सवेदनों के दायरे में सस्कृति और धर्म का ठीक वही रूप नहीं रह जाता, जो इतिहास का। इसलिए खुद के द्वारा सस्कृति, धर्म और इतिहास में किये जा रहे घालमेल को 'इतिहास, सस्कृति और मुक्तिदाता धर्म के आपसी सक्रमण' का जामा ओढ़ाना उचित नहीं। घालमेल (क्षेपक) और संक्रमण एक ही वस्तु नहीं।

आपने, अपने लेख का आरम्भ ही इस सूत्रवाक्य से किया है कि--

'रामकथा इतिहास नहीं, काव्य है। कोई एक काव्य भी नहीं- काव्यों और महाकाव्यों का हजारों सालों में फैला सिलसिला।'

यह तो हमें भी पहली बार जानने को मिला कि 'रामायण' कोई एक महाकाव्य नहीं, बल्कि काव्यों-महाकाव्यों का हजारों सालों में फैला सिलसिला है। हालाँकि आपके लेख में 'रामायण' के काव्य या महाकाव्यात्मक कृति के रूप में देखे गये होने की गवाही कहीं नहीं। और न ही आपका तात्पर्य 'रामायण' के पश्चात के रामकथासम्बन्धी महाकाव्यों से है। लेख में तो 'रामायण' को पैलेस-इट्रीज वाली सामंती कहानियों का पुलिंदा ज्यादा सिद्ध किया गया है।

रामायण को सामंती पैलेस इट्रीज का पुलिंदा करार देते हुए, आप लिखते हैं-

'आल्हा-ऊदल का एक प्रसंग हो या दस, वही चढ़ाइयाँ और लड़ाइयाँ हर बार दुहराई जाती हैं, इसलिए राम-कथा भी सत्ता और सिंहासन की लगभग वैसी ही लड़ाई है, जैसी महाभारत। दशरथ के चार बेटे हैं, लेकिन दो दलों में बँटे हैं। महलों में ठीक वही स्थिति है, जिसे 'पैलेस इट्रीज' कहा जाता है और दुनिया का हर महल जिनसे 'गुलजार' रहा है। गतयौवना कौशल्या और सुमित्रा एक तरफ हैं और छोटी युवा रानी कैकेयी दूसरी तरफ। आज भी दूसरी या तीसरी शादी (या सम्बन्ध) के समय औरत पूछती है, आखिर मेरी संतान का भविष्य क्या होगा ? उस समय भी कैकेयी ने यही शर्त रखी होगी कि सिंहासन पर मेरा ही बेटा बैठेगा। बहुत-से राजाओं ने ऐसी शर्तों पर शादियाँ की हैं और बड़ी रानी को 'कागबिडारनी' बना दिया है। छोटी रानी आँख की पुतली बनकर रही है। सिंहासन का हक कौशल्या और उसके बेटे का बनता है, मगर धौंस कैकेयी की है। समझदारी इसी में है कि सुमित्रा दोनों शक्तियों में अपना एक-एक बेटा बाँटकर संतुलन और सुरक्षा खोजे। हालाँकि यह है कि शुरू से ही राम और भरत दो अलग-अलग दुनिया में रहते हैं। भरत और शत्रुघ्न की शिक्षा-दीक्षा वशिष्ठ करा रहे हैं और राम-लक्ष्मण की विश्वामित्र'। 'हंस'- जून-जुलाई १९८८ पृष्ठ २८)

यहाँ सवाल जरूरी है यह कि इतिहास नहीं कहने के बाद भी इतिहास ही मानते चलने का तर्क क्या होगा ? क्योंकि जिस तरह से आप रामकथा के वृत्तांतों को सामंती 'पैलेस इट्रीज' के तथ्यों की शक्ल देते चले जाते हैं, इससे साफ दिखाई देता है कि आप

‘रामायण’ को सामंती व्यवस्था का इतिहास मानते-मनवाते चलना चाहते हैं। अन्यथा कम-से-कम इस तरह के हास्यास्पद सवाल आप कभी नहीं पूछते कि-

‘पूछा जा सकता है कि चारों भाई जंगल में क्यों नहीं गये, या चारों ने महलों में रहकर ही वसिष्ठ से शिक्षा क्यों नहीं ली ? जरूरी था, तो चारों ही जाकर राक्षसों को मारते या ऋषियों और यज्ञों की रक्षा करते। दो हमेशा ननिहाल क्यों रहते हैं ? खासतौर से उस समय, जब राम अयोध्या में हों ? जिस राम का कल राज-तिलक होने वाला है, वह अगले दिन जंगल में क्यों भागता है ? लक्ष्मण अपनी पत्नी को लेकर क्यों नहीं जाते ? राजा दशरथ बीमार होकर महलों में कैद क्यों हैं ? राम को कुछ विश्वस्त सैनिकों के संरक्षण में सीमा (नदी) पार कराया गया, या उन्हें ‘शत्रुओं’ की फौजों ने वहां तक खदेड़ा ? राजकोप के भय से मल्लाह के इनकार करने पर, डरा-धमकाकर, या मृद्रिका की घूस देकर नदी पार करने की हडबडी क्यों है ? बीच-बीच में लक्ष्मण और भरत वृद्ध पिता का वध करने की बात क्यों कहते हैं ? (हनिष्ये पितर-वृद्ध) दशरथ की मृत्यु पर कैकेयी वहा क्यों नहीं है ? [‘हस’- सयुक्ताक १६८८]

कहना जरूरी नहीं कि इन सारे सवालों को आप काव्य या महाकाव्य नहीं, बल्कि ‘पैलेस इंट्रीगज’ की सत्यकथाओं के सवालों के तौर पर पूछ रहे हैं।

अब अगर हम भी आपसे पूछें कि- लालबहादुर शास्त्री की ताशकद-यात्रा में श्रीमती ललिता शास्त्री जी को साथ क्यों नहीं जाने दिया गया ? कदाचित् शास्त्री जी का हृदय इतना कमजोर था, तो उसकी गति पाकिस्तानी बमबारी की जगह, ताशकद शांति-संधि में क्यों रुकी ? श्रीमती गांधी की हत्या के पहले ज्ञानी जैलसिंह और राजीव गांधी, दोनों ही एक साथ देश के बाहर क्यों चले गये थे ? दुर्घटना के दिन सजय गांधी अपने शौकिया हेलीकाप्टर में मेनका गांधी को साथ क्यों नहीं ले गये थे ? जहाज जब गिरा, तो उसमें आग क्यों नहीं लगी ? दोनों ही भाई हवाईजहाजबाजी के इतने शौकीन क्यों थे ? पहले भी दोनों भाई एक साथ विदेश पढ़ने क्यों भेजे गये थे ? दोनों नाना नेहरू के संरक्षण में ही क्यों पले ? एक भाई श्रीमती गांधी और दूसरा फिरोज गांधी के साथ क्यों नहीं रहता था ? या कि राजीव गांधी को रायबरेली की बिल्लियों की याद क्यों आती थी ? उनकी शादी भारत की जगह, इटली की लडकी से क्यों की गई ? तो क्या आप सचमुच जवाब देंगे ? और यदि नहीं, तो दूसरों से सन्निपात के रोगी की भाँति ‘रामायण’ के बारे में पूछने का मतलब ? शायद, आप कहें कि ‘सत्ता का द्वन्द्व’ लेख में सामंती व्यवस्था के पैलेस इंट्रीगज की बात की गई है, समाजवादी- लोकतांत्रिक इंट्रीगज की नहीं, लेकिन तो भी इन सारी बातों के बहिर्साक्ष्य क्या होंगे ?

और कि क्या सत्यकथाओं तथा महाकाव्यों के बहिर्साक्ष्यों की प्रकृति समरूप होगी ? अगर होगी, तो इन सवालों का जवाब क्या देना चाहेंगे आप की लक्ष्मी जहाँ कैद थी, वही क्यों, किसी दूसरी जगह कैद क्यों नहीं थी ? या कि जब वह किसी जेल या थाने में बंद नहीं थी, तो उसे ‘कैद थी’ कहा ही क्यों गया ? या कि क्या यह सम्भव नहीं हो सकता कि बनिये ने राजेन्द्र यादव और लक्ष्मी, दोनों को एक ही कमरे में बन्द कर रखा हो ? क्योंकि

अगर ऐसा नहीं था, तो आपको पता ही कैसे चला कि लक्ष्मी कहाँ कैद थीं ? ये सवाल 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' को कहानी मानकर उठाये गए सवाल होंगे, या कि सत्यकथा ? इस तरह के कुतर्क से तो यह भी सवाल उठाया जा सकता है कि 'गोदान' में होरी ही क्यों मरता है, धनिया क्यों नहीं ? या दोनों साथ-साथ क्यों नहीं मरते ? धनिया होरी के साथ सती क्यों नहीं हुई ? कहीं उसका इरादा पुनर्विवाह का तो नहीं था ?

ऐसे तमाम कुतर्कों की प्रासंगिकता क्या होगी ? जबकि इतिहास के तथ्य और महाकाव्य या उपन्यासों के तथ्य समरूप कभी नहीं होंगे, क्योंकि न इतिहास सवेदना को केन्द्र में रखकर लिखा जाता है और न ही साहित्य जड़ इतिहासतत्त्व को धुरी बनाकर ! यहाँ तक कि ऐतिहासिक काव्यों या उपन्यासों में भी जोर इतिहास के तथ्यों नहीं, बल्कि इतिहास के साहित्य में स्पष्टतः पर होगा और इसी अनुपात में समीकरण बदल जाएँगे।

होरी-धनिया के वास्तव में हुए होने का प्रमाण क्या होगा ? देश के बड़े-बड़े पुश्तैनी किसानों और खेतिहरों के बीच होरी-धनिया की किसानी की औकात ही कितनी होगी ? लेकिन भारतीय किसान के जीवनसघर्षों के प्रसंग में होरी-धनिया से बड़ी सचाइयों का कोई उदाहरण मिलेगा कहीं ? होरी-धनिया के इतिहासिद्ध नहीं होने के बावजूद जैसे 'गोदान' भारतीय किसानों की सवेदना का महाकाव्य है, ठीक ऐसे ही 'रामायण' भारतीय मानस के लिये किसी भी इतिहास से बड़ी सचाई। अफसोस कि इतिहास, धर्मग्रंथ सस्कृति या काव्य के मूल उत्सों की पहचान बताने की जगह, आप हमें अपनी 'पैलेस इट्रीज'- विशेषज्ञता के जासूसी फंदों में फसाना चाहते हैं और इसीलिये दशरथ-राम, शाहजहा-औरंगजेब में आपको कोई बुनियादीफर्क दिखाई नहीं पड़ता। जबकि जो इतिहास नहीं और जो इतिहास है, इनके बीच कहीं-न-कहीं एक बुनियादी फर्क होगा जरूर।

स्पष्ट है कि रामकथा को 'पैलेस इट्रीज' की सत्यकथा साबित कर दिखाने के चक्कर में ही आपने महाकाव्य के सारतत्त्वों और 'पैलेस इट्रीज' की सत्यकथाओं के जासूसी तथ्यों को आपस में गड़ड़-मड़ड़ करने का करिश्मा कर दिखाना चाहा है। कह लेने की इजाजत देंगे कि यह करिश्मा आपके स्तर के लेखक को शोभनीय नहीं।

हम तो आपसे यह जानने में रुचि दिखाना चाहेंगे कि मनुष्य मुक्ति की व्याकुलता क्यों अनुभव करता है ? कभी धर्म, कभी विचार और कभी मिथको में मुक्ति की खोज के उसके वास्तविक कारण क्या हैं ? महाकाव्य मनुष्य की इसी व्याकुलता को एक अधिकतम सुन्दर और सगत आकार देने का काम करते हैं। अफसोस कि 'रामायण' को महाकाव्यों का सिलसिला और (धर्मग्रंथ के तौर पर भी) भारतीय मानस के लिये इतिहास से भी बड़ी सचाई हाने को स्वीकार करने के बावजूद आपने उसे 'सामंती सत्ता-षड्यंत्रों की एक जानी-पहचानी सत्यकथा' से ज्यादा कोई महत्व कतई नहीं दिया, तो इसे सिवा एक शर्मनाक अतर्विरोध के और क्या माना जाय ?

क्या आप हमें बताना चाहते हैं यह कि जो 'रामायण' सिवा सामंती षड्यंत्रों की 'पैलेस इट्रीज' की कोटि की घासलेटी किस्सागोई के और कुछ नहीं, वह जड़, जाहिल

और इतिहासबुद्धि तथा बौद्धिक ज्ञान के स्पर्श तक से शून्य भारतीय मानस के लिये सहस्राब्दियों तक इतिहास से भी बड़ी सचाई बनी हुई है ?

बड़े भाई, झूठ को बिना पॉव का यों ही नहीं बताया गया। अपने इस अतर्विरोधी कथन से आपने स्वयं इस सच को उजागर कर दिया है कि महाकाव्य कैसे इतिहास से भी बड़ी सचाई हुआ करता है, क्योंकि उसमें ही मनुष्य अपने विराट के साथ के सम्बन्धों का साक्षात्कार कर पाता है, जड इतिहासवाद में नहीं। सवेदनात्मक नैरर्त्य और स्मृति की मानव इतिहास में क्या भूमिका होती है, इस गहराई में गये बिना ही इतिहास के पन्ने फडफडाना ठीक नहीं।

‘रामायण’ इतनी सपाट चीज नहीं। वह हिन्दुओं से पहले भारतवर्ष का जातीय महाकाव्य है। भारत के सीमांतों के भी पार, मनुष्य-मात्र की सवेदना का अपूर्व प्रतिमान ! हिंदू समाज की विकृतियों के उत्स ‘रामायण’ नहीं, बल्कि मूल्यकेन्द्रित राज्यव्यवस्था के धीरे-धीरे सामंती शक्तियों की सत्ता में परिवर्तित होते जाने की पतनशील प्रक्रिया में निहित है। धार्मिक पोंगापथ और जातिवाद का कोढ़ ‘रामायण’ की देन नहीं, बल्कि ‘रामायण’ के एक जातीय महाकाव्य की स्थिति से जातिवादियों की धार्मिक पोथी में अवक्रमित होने की जड़ें सामंती प्रभुत्ववाद में हैं। आपकी कोटि के मूर्धन्य लेखक को इतना अभिज्ञान जरूरी था कि ‘पैलेस इट्रीज’ की सत्यकथाएँ सस्कृति का आधार नहीं बना करती हैं, क्योंकि सस्कृति की भित्तियाँ समाज के सवेदनों पर टिकी होती हैं, ‘पैलेस इट्रीज’ नहीं।

कहीं किसी ऐसी सस्कृति या सास्कृतिक प्रक्रिया का कोई उदारहण देंगे आप, जिसका मूलाधार ‘पैलेस इट्रीज’ की सत्यकथाएँ रही हों ? भारतीय मानस के लिये ‘रामायण’ के इतिहास से भी बड़ी सचाई होने के सारे सूत्र ‘रामायण’ के भारत की जातीय सस्कृति का महाकाव्य (सवेदना के काव्य में रूपांतरण) होने में अतर्ग्रहित हैं और सारे दैवी (परिकल्पनामूलक) मिथकों के बीच से भी उन आधारभूत सारतत्वों की पहचान निर्दिष्ट करना ही किसी लेखक को शोभा दे सकता है, जो हजारों वर्षों के बौद्धिक विकास, जातीय स्मृति और सवेदनगत व्याप्ति का एक महाकाव्यात्मक वितान हमारे सामने उपस्थित करते हों।

आपके पूरे लेख में ‘रामायण’ की इस सास्कृतिक धुरी का कोई उल्लेख कतई नहीं। आपका इतिहास, सस्कृति और मुक्तिदाता धर्म के आपस में सक्रमण का फतवा ‘रामायण’ को ‘पैलेस इट्रीज’ की सत्यकथा साबित करने की चतुरता को ढाँपने का एक आवरण-मात्र है, क्योंकि अपने लेख में इतिहास, सस्कृति और धर्म के सक्रमण के सवाल की पहचान और विवेचना में आपने कोई रुचि कहीं नहीं दिखाई है।

आज तक कभी ऐसा नहीं हुआ कि इतिहास की पुस्तक को इतिहास, महाकाव्यों को महाकाव्य या कि धर्मग्रंथों को ‘धर्मग्रंथ’ बताने में कोई बाधा उपस्थित होती हो। --अगर कोई कहे कि इस दृष्टि से देखने पर तो किसी भी हिन्दू ग्रंथ को धर्मग्रंथ कहा ही नहीं जा

सकता, क्योंकि हिन्दू का हिन्दू होना धर्मग्रंथों पर अवलम्बित है ही नहीं, तब बताना जरूरी होगा यह भी कि ऐसा क्यों है ।

धर्म के मामले में हिन्दू समाज को विश्व का सर्वाधिक खुला, सहिष्णु और उदार समाज मानने में जिन्हें कष्ट होता हो, उन्हें इतिहास, संस्कृति, और धर्म के गड्ड-मड्ड होने का दावा करते वक्त यह बताना जरूरी होगा कि 'रामायण' किस हद तक इतिहास, कहाँ तक संस्कृति (या महाकाव्य) अथवा किस रूप में धर्मग्रंथ है । जो इतना स्पष्ट बताने में असमर्थ हो, उन्हें मान लेना चाहिए कि सारा गड्ड-मड्डपन उनकी खुद की बुद्धि, समझ और उद्देश्य के स्तर पर है । खुद के गड्ड-मड्ड को 'रामायण' का गड्ड-मड्ड बताना ठीक नहीं ।

'रामायण' को अपने ढंग से लिखने की बात दसियों सालों से सिर्फ सोचते ही क्यों रह गये हैं आप ? आपका कहना है-

'सामंती व्यवस्था के चौखटे में राम के आचार-व्यवहार का जो रूप रहा होगा, या जो कुछ उनके साथ या उनके द्वारा घटित हुआ होगा -- उसे अपने ढंग से लिखने की बात मैं दसियों बरसों से सोचता रहा हूँ । आखिर एक विशिष्ट समाज में मानव-व्यवहार और उनसे प्रेरित कार्य-व्यापार का एक सामान्य रूप तो निर्धारित होता ही है, राम क्या सिर्फ उनका अपवाद ही है ।'

इरादा अभी भी बरकारार हो, तो इतना ध्यान जरूर रखियेगा कि 'रामायण' को अपने ढंग से लिखने और 'रामायण' के तथ्यों को अपने ढंग से विकृत अथवा विरूपित करने में अंतर है । वैसे इस बात की एक अच्छी-खासी झलक तो आपने अपने इसी लेख में दे दी है कि सामंती व्यवस्था के चौखटे में राम के आचार-व्यवहार का रूप आपकी खोजी प्रतिभा के स्पर्शों के बाद कैसा निकल आयेगा । लव-कुश के द्वारा गला दबाने के बाद, नदी में डुबोकर राम की हत्या किये गए होने का जो रहस्य आपने उद्घाटित किया है, इससे भी कुछ अनुमान लगा ही लेंगे लोग कि राजेन्द्र यादव-विरचित इतिहाससम्मत 'रामायण' में और क्या-क्या चमत्कारिक तथ्योद्घाटन सम्भावित हो सकते हैं ।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अगर 'रामायण' आपके द्वारा पुनर्मृजित हुई, तो यह अपन ढंग की एक रोमांचकारी कृति होगी जरूर । बिल्कुल सम्भव है कि उसमें सीता लैला का मात करनी नजर आ रही हों और राम मजनु बने अशोकवाटिका की राक्षसिया के झापड़ खा रहे हों । ---क्योंकि इतना आप पहले ही बता चुके कि संस्कृत के मानक और 'विशित्याधिकार्य' वाली भाषा होने से बहिर्साक्ष्य अधिक विश्वसनीय होंगे ।

अब कोई दूसरा क्या खाकर यह सिद्ध कर पायेगा कि आपके द्वारा प्रस्तुत रहस्योद्घाटन बहिर्साक्ष्य के मान नहीं ? जब किसी महाकाव्य को एक सामंती सत्यकथा सिद्ध करने को विरूपता की किसी भी हद तक जाकर मतव्यगिद्धि ही लक्ष्य हो, तो तय है कि तब ऐसे तमाम बहिर्साक्ष्य ही सर्वाच्च मानक सिद्ध होंगे जो महाकाव्य के सारतत्त्वा के हलाल में सहायक हो सकें ।

आप बताते हैं -

‘वाल्मीकि रामायण को प्रस्थान-बिन्दु मानकर ही मुझे लगता है कि राम की कथा उन सैकड़ों-हजारों कहानियों से बहुत अलग नहीं होनी चाहिये, जो उस व्यवस्था में हर देश-काल में घटित होती रही हैं। सामंती व्यवस्था में व्यक्ति का अलग से वैसे भी कोई अर्थ नहीं होता। उदारहण के लिए थोड़े-बहुत बदलाव को छोड़कर उस व्यवस्था में हर कही प्रेम-कहानी का लगभग वही रूप रहा है, जो लैला-मजनू या हीर-राँझा का। हर ‘रासोवीरगाथा’ में राजा-रानियों के नाम बदलकर एक ही कहानी चलती है।’

[‘हंस’-सयुक्ताक, १६८८ पृष्ठ २८]

जब राम की कथा हर देश-काल में घटित होने वाली सैकड़ों-हजारों कहानियों में से ही एक, तब आपको सिर्फ ‘रामायण’ से ही इतनी गहरी तकलीफ क्यों है ? क्यों नहीं लैला-मजनू, शीरी-फरहाद, जहाँगीर-अनारकली या आल्हा-ऊदल की ही कहानी को अपने ढग से लिख डालते आप ? हमसे पूछिये, तो रामकथा अपने ढग से कभी नहीं और कदापि नहीं लिख पायेंगे आप, क्योंकि बेढगेपन की भी एक हद होती है और वह इसी लेख में सामने आ चुकी है। आपके स्तर का लेखक ‘रामायण’- जैसे महाकाव्य पर इतने घटिया स्तर पर उतरकर लिखे, इसे सिर्फ दुखद ही कहा जा सकता है।

आपसे तो हमें यह जानने को मिलना चाहिए था कि किसी कृति में रचना के वे कौन-से आधारभूत सारतत्व हुआ करते हैं, जिनसे कि एक अन्यथा सामान्य-सी लगती कथावस्तु भी महाकाव्यात्मक सवदेना से झिलमिला उठती है। ‘रामायण’-जैसे महाकाव्य में से जिस कोटि के तथ्यों को खोज निकाला है आपने, ये एक तीन कौड़ी के जासूस की कल्पना से भी बदतर हैं।--- जिसकी बुद्धि सिर्फ विकृति की दिशा में ही दौड़ती हो, उसके द्वारा महाकाव्यों का आकलन असम्भव है। आप बतायेंगे कि जब ‘रामायण’ की कथा सामंती व्यवस्था की सैकड़ों-हजारों प्रचलित कहानियों में से ही एक है, तब सैकड़ों-हजारों रामायणों के प्रचलन में नहीं होने का रहस्य क्या है ? एक रित्त तो, खैर, अभी आपके लैला-मजनू, शीरी-फरहाद या ‘जहाँगीर-अनारकली’ पर महाकाव्य नहीं रचने से रह गई।

कहने को तो कह दिया, लेकिन कुछ हमें समझायेंगे भी कि व्यक्ति का अलग से कोई महत्व सामंती व्यवस्था में नहीं होता, या कि साम्यवादी व्यवस्था में ? आज तक यही सुनते-समझते आये थे कि व्यक्तिवाद सामंती और पूँजीवादी व्यवस्था की धुरी है ? व्यक्ति का सामंत में रूपांतरण ही सामंती व्यवस्था को जन्म देता है, व्यक्ति का अलग से कोई महत्व नहीं रह जाने का करिश्मा नहीं। फिर ऐसी कोई भी व्यवस्था असम्भव है, जिसमें व्यक्ति का अलग से कोई महत्व नहीं रह जाता हो। सवाल सिर्फ चरित्र का हो सकता है।

झूठ की यह ग्रासदी है कि आदमी को अपना ही कहा स्मरण नहीं रहता। इतिहास या संस्कृति के महानायकों को उनके अपने ही समाज में रखकर देखने का मतलब यह कहाँ से निकल आया कि सीता और राम का लैला-मजनू, शीरी-फरहाद और जहाँगीर-अनारकली से मिलान करके ऐसे मनमाने नतीजे निकाल जाय, जिनसे खाज की

जगह खाज टपकी पड़ती हो ? क्या रूस्तम-सोहराब, शीरी-फरहाद, लैला-मजनू, आल्हा-ऊदल और अनारकली-नूरजहाँ, मुमताज और दशरथ-कैकेई या राम-सीता के समाज या कि देश-काल एक ही हैं ? और समान रूप से ऐतिहासिक भी ?

जब इतिहासबुद्धि का दीवाला इस हद तक पिटा हुआ हो कि पुष्पक विमान की उड़ान को तो शुद्ध काल्पनिक हवाई उड़ान, लेकिन सीता के अग्निदाह के बाद भी सुरक्षित रह जान को प्रमाणिक इस घतुराई में मान लिया जाय कि अन्यथा सीता के द्वारा राम की लाहना को भी काल्पनिक ही कहना पड़ सकता है- तब इतिहास, संस्कृति और मुक्तिदाता धर्म के परस्पर सम्क्रमण का हुलिया इससे बेहतर क्या होगा कि राम दशरथ का गला दबा रहे हों, लव-कुश राम लक्ष्मण-रत शत्रुघ्न का और सीता अनारकली बनी 'प्यार किया तो डरना क्या' गाती दिखाई पड़े ?

आप बताएंगे कि जब प्रस्थान-बिन्दु वाली सामंती कहानी काव्यों- महाकाव्यों का हजारों-साल लम्बा सिलसिला बन गई, तो अनारकली की कहानी क्यों नहीं ? इसलिए कि चूँकि इधर से अतीतवादी हिन्दुओं ने दुश्मनों के द्वारा जंगल में खदेड़ दिये गए पितृहता राम के दरबार की अनारकली (सीता) को जगतजननी का दर्जा दे दिया-- और उधर अनारकली पर राजेन्द्र यादव जी के द्वारा कोई महाकाव्य नहीं रचा गया ?

समझना मुश्किल है कि सामंती व्यवस्था की आपकी अवधारणा क्या है। जहाँ तक हम समझ पाये हैं, सामंती व्यवस्था में सामाजिक अथवा नैतिक मूल्य 'पैलेस इट्रीज' के प्रतिमान नहीं हुआ करते हैं। सामंती व्यवस्था में सीता को राम की प्रताड़ना करने पर, सामंत-शिरोमणि राम के द्वारा 'आखाँ के रोगी के सामने की निष्कम्प दीपशिखा' की उपमा नहीं दी जाती। बल्कि बहुत सम्भव है कि सीता को विभीषण को सौपते हुए, कुछ ऊँचा सौदा कर लिया जाता। सामंती व्यवस्था में बलकुल सम्भव था कि मदोदरी को राम की रखैल के रूप में पुष्पक विमान में जगह मिलती। सामंती व्यवस्था में महारानी पर लाहून बूकने वाले धोबी भद्र की चमड़ी उधेड़ ली गई होती और उसका आखिर हुआ क्या, यह सिर्फ सरयू की मछलियों या अयोध्या के चील-कौवों को ही पता चल पाता, जिसको कि स्वयं आपने 'घुगलखोर मुसाहिब' करार देते हुए, उसे राम से ज्यादा शक्तिशाली तथा राम को उसकी धूर्तता का शिकार बताया है।

सामंती व्यवस्था में जान बचाकर भागते में मुद्रिका घूस में लेकर ही नदी-पार उतारने वाल निषाद को चक्रवर्ती सम्राट के द्वारा स्वयं की 'आत्मा का प्रतिबिम्ब' नहीं माना जाता है। सामंती व्यवस्था में अस्तित्व-भय में राज्य की सीमा-पार भागे हुए बड़े भाई के लिये, छोटा भाई पर्णकुटी का जीवन अंगीकार करते हुए, सर्वोच्च राज्यप्राधिकारी होने के बावजूद जोगी का जीवन व्यतीत नहीं करता है।

हालांकि 'हम' के इसी अंक में आपने अपने विगदर श्री भगवान सिंह के द्वारा यह स्पष्ट भी उजागर करवा दिया है कि भारत में सामंती व्यवस्था में सामंती व्यवस्था का जीवन बतला रहे थे कि चूँकि राजाजन्ता कैकेई ने इशिया ली थी और राज्य का दावा करने

पर वह भरत की (भी) हत्या करवा सकती थी।

-----ऐसा अपूर्व पूर्वानुमान तो लोग श्रीमती गांधी के बारे में भी लगाने में हिचकते रहे, जबकि सजय गांधी की अकालमृत्यु से कुछ भी प्रवाद गढ़ा जा सकता था।

जाहिर है कि आपका पूरा लेख श्री भगवान सिंह के इसी विद्वत्तापूर्ण लेख के रहस्योद्घाटनों से अनुप्राणित है, जिसमें कि 'रामायण' से तात्पर्य उस विकृति से है, जिसको गहन आलोचनात्मक विवेक से ही पढ़ा जा सकता है।^१

श्री भगवान सिंह यह नहीं कहते कि मूल रामकथा में क्षेपकों से आ गई विकृतियों और अप्रासंगिक-अप्रामाणिक मिथकों को आलोचनात्मक विवेक से देखा जाना चाहिये। वो 'रामायण' को ही विकृत कृति घोषित करते हैं, बिना यह स्पष्ट किये ही कि किसी मूलतः विकृत कृति में से गहन आलोचनात्मक विवेक से भी सिर्फ विकृति को ही उपलब्ध किया जा सकता है।

अंतर आपके और उनके लेख में यह है कि वो राम को आपकी तरह पितृहता और पुत्रहत्त घोषित न करके, 'महान् क्रतिकारी लोकनायक' के रूप में स्थापित करते हैं। यहां भी उन्हें यह चिंता नहीं कि किसी विकृत कृति में 'महान् क्रतिकारी लोकनायक' सम्भव ही कैसे है ? या कि जिसका नायक 'महान् क्रतिकारी लोकनायक' हो उसे विकृत कृति की श्रेणी में रखना किस गहन आलोचनात्मक विवेक का सूचक होगा ? उद्धरणमार्तण्डता और मनमानी व्यवस्थाओं को गहन आलोचनात्मक विवेक का नाम देने की गलतफहमी का ही यह परिणाम है कि उन्हें 'रामायण' शास्त्रीय अर्थ में महाकाव्य क्या, काव्यात्मक कृति भी नहीं दिखाई पड़ता है।^२

एक ही सास में रामायण 'विकासशील महाकाव्य' भी है और शास्त्रीय अर्थ में काव्य भी नहीं है ! हासशील महाकाव्य बताते भगवान सिंह, तो माना जा सकता था कि कालांतर में हास होते-होते महाकाव्य काव्य भी नहीं रह गया। विकासशीलता की प्रक्रिया में तो महाकाव्य के अतिमहाकाव्य हो जाने की सम्भावना अधिक होगी ? फिर जब 'रामायण' के आरम्भिक रूपों का खुद भगवान सिंह को ही कोई अता-पता तक मालूम नहीं, तो किस सडकछाप ज्योतिषी ने उन्हें बता दिया कि 'रामायण' का आरम्भिक रूप निश्चय ही एक महाकाव्य का था ? गनीमत कि ज्ञानकोश ही कहा, शब्दकोश नहीं, लेकिन कोई विकृत

१- 'रामायण से हमारा तात्पर्य उस विकृत कृति से है, जो रामकथा और राम का चरित्र एक लोकनायक के रूप में उनके असाधारण महत्त्व, सभी की हत्या करती है और जिसको गहन आलोचनात्मक विवेक के साथ ही पढ़ा जा सकता है।' (भगवान सिंह 'हंस'-संयुक्तांक १६८८, पृष्ठ-३१)

२- 'रामायण' और महाभारत, दोनों विकासशील महाकाव्य हैं- शास्त्रीय अर्थ में काव्य भी नहीं अपितु महापुरुष और ज्ञानकोश। इनका आरम्भिक रूप निश्चय ही एक महाकाव्य का था। (भगवान सिंह 'हंस'- संयुक्तांक १६८८ पृष्ठ-३२)

कृति ज्ञान का कोश कैसे होगी ? भगवान सिंह महाकाव्य या काव्य की क्या परिभाषा करना चाहेंगे ? जबकि अपने बृहत्तर अर्थ में काव्य पद्य ही नहीं, गद्य का भी आगिक तत्व ही हो जाता है।

श्री भगवान सिंह के लेख का कुछ उल्लेख यहा सिर्फ इतना ध्यान दिलाने को कि जहा अतर्वस्तु और भाषा का सामान्य विवेक ही लापता हो, वहा बचारे गहन आलोचनात्मक विवेक को जगह कहा होगी ? अलबत्ता उनके इस तर्क से असहमति की गुजाइश नहीं होगी कि किसी भी कृति को अधभाव से नहीं, बल्कि गहरे तत्त्वदर्शी विवेक के साथ देखा जाना चाहिये।^१

रामकथा या 'रामायण' के समाजविरोधी शक्तियों के द्वारा षड्यंत्रकारी दुरुपयोग और इसके दुष्परिणामों से भी इकार नहीं किया जा सकता। भगवान सिंह का समाज या मूल्यविरोधी विकृतियों के परिहार का तर्क भी पूरी तरह सगत है और शास्त्रार्थ की जो व्याख्या उन्होंने दी है, उससे स्पष्ट है कि वो अधनिषेधवादी नहीं हैं, किन्तु उनके लेख में अतर्विरोध और दुराग्रह जरूर है। इसी से कई 'जगह भाषा का विवेक भी गहन होने की जगह, गहरे गड्ढे में जा गिरा दिखाई पड़ता है। जबकि आपके लेख में 'रामायण' और भारतीय सस्कृति के गुणात्मक पक्षों का पूरी तरह निषेध है।

आप लिखते हैं कि-

'जीवित अतीत का ही दूसरा नाम भूत है। यहा एक बात समझना और भी जरूरी है कि राम की कथा या कोई भी रचना जहा सस्कृति की विरासत के रूप में अनंत व्याख्याओं के द्वार खोलती है, वही धर्म-ग्रंथ के रूप में पूज्यकथा के साथ--- बहुत छेड़छाड़ को बर्दाश्त नहीं करती। वही मुहावरा या चौखटा बरकरार रखते हुए आप बहुत सावधानी या चतुराई से उसमें कुछ घटा-बढ़ा लें यह तो सम्भव है, लेकिन विश्लेषण और व्याख्याओं की क्रिया में जायेंगे, तो वही छाया-युद्ध (या फैण्टम फाइट) शुरू हो जायेगा, जो आज हो रहा है। धार्मिक-विश्वास हमें जिन्दगी की सचाइयों और लड़ाइयों से हटाकर नकली प्रतीकों के युद्ध में उतार देते हैं।' ('हस' सयुक्ताक १६८८-पृ०-२६)

१- 'वेदों में एक स्थल पर आया है, पारस्परिक विचार-विमर्श के उपरान्त इसके सार-हीन अश का उसी तरह परिहार (कर देना चाहिये) जैसे सत्तू को छानकर उसकी भूसी फेंक देते हैं। (ऋ० १०-७१-२) इसका अर्थ रहा है, अपने से भिन्न नितात विरोधी दृष्टिकोण रखने वालों के साथ भी धैर्य से बैठकर विचार, अपने पक्ष का तर्कपूर्ण और ओजस्वी ढंग से प्रतिपादन, किन्तु अपर पक्ष के तर्कों और प्रमाणों को भी आदर और सहानुभूति से सुनना और विचार करना और यदि अन्तिम व्याख्या में दूसरे का पक्ष अधिक वैज्ञानिक और ग्राह्य लगे, तो इसे बिना किसी अवरोध के स्वीकार करना। यही हमारी परंपरा की सबसे बड़ी शक्ति रही है। भगवान सिंह 'हस' सयुक्ताक १६८८, पृ०-३२।

कहा जरूर, लेकिन बताया कहीं नहीं आपने कि 'राम की कथा सांस्कृतिक विरासत के रूप में अनंत व्याख्याओं के द्वारा अगर खोलती है, तो आपके लेख में इसकी खिडकियों के सुराख तक बन्द क्यों हैं ? न ही आपने कहीं यह जिक्र किया कि रामकथा को सांस्कृतिक विरासत की जगह, 'पैलेस इट्रीज' की जासूसी रपट की तर्ज में नई व्याख्यायित करने की आखिर ऐसी अपरिहार्यता क्या थी ? और जो यह आपने 'जीवित अतीत का ही दूसरा नाम भूत' होने की सूक्ति बधारी है, इस सन्दर्भ में, इतना कह लेने की इजाजत इधर भी रहे कि जीवित अतीत का ही दूसरा नाम संस्कृति भी होता है। सवाल रह जाता है सिर्फ यह कि कौन संस्कृति को साधना चाहता है और कौन 'भूत' को सिद्ध करना। आप यह भी नहीं बताते कि सिर्फ हिंदुओं के धार्मिक विश्वास ही नकली प्रतीकों को युद्ध में उतार देते हैं, याकि मुसलमान या ईसाईयों के भी ?

जहां तक 'धर्मग्रंथ'-रूपी पूज्यकथा के साथ बहुत छेड़छाड़ बर्दाश्त नहीं करने का सवाल है, आप बतायेंगे कि यह छेड़छाड़ इस हद तक जाकर भी करना जरूरी क्यों हो कि राम के लव-कुश के द्वारा गला दबाकर हत्या कर दिये गये होने की घोषणा जरूरी लगे ? और इसका प्रमाण दिया जाये इस तर्क से कि चूंकि सामन्ती व्यवस्था में अन्नाउद्दीन के द्वारा खुद के चाचा की हत्या, औरगजब के द्वारा शाहजहा को घुला-घुलाकर मारने के ऐतिहासिक प्रमाण मौजूद हैं।

आप कुछ बतायेंगे भी कि इस तरह की छेड़छाड़ का कोई उद्देश्य भी होगा या कि बस, यों ही छेड़छाड़ को छेड़छाड़ जरूरी होगी ? सच कहें, तो आपकी इस 'पैलेस इट्रीज' की रहस्यखोजी बौद्धिक 'फैण्टम फाइट' का सचमुच कोई जवाब नहीं।

छेड़ने में कुछ हर्ज नहीं, लेकिन बताना भी जरूर चाहिए कि छेड़ना जरूरी क्यों हुआ है। दशरथ की हत्या कौशल्या- सुमित्रा- कैकेयी- भरत- शत्रुघ्न या राम-लक्ष्मण में से किसी के द्वारा और राम-लक्ष्मण की हत्या लव-कुश के द्वारा हुई बताना, उन करोड़ों-करोड़ लोगों के संवेदनात्मक लगावों को एक निहायत ही खतरनाक बौद्धिक उद्यम के साथ छेड़ना है, जिनके लिए रामकथा सिर्फ किन्हीं सामंतों के व्यक्तिगत शौर्य-प्रेम और द्वन्द्वों की नहीं, बल्कि एक व्यापक मानव-समाज की जातीय-स्मृति, संवेदना, परम्परा, नैतिक अवधारणा, सामाजिक स्वस्ति और आत्मा की आलोक-रेखाओं के महाकाव्यात्मक प्रतिबिम्बन की प्रतीक और धरोहर है।

सीता को अनारकली सिद्ध करना एक बौद्धिक भड्कास के सिवा कुछ नहीं, क्योंकि यह एक पूरे समाज की संवेदना और चेतना पर थूकना तथा उसे यह बताना है कि 'रामायण' के द्वारा हजारों वर्षों से सिर्फ जाहिलों और मूर्खों का मनोरंजन होता चला आ रहा है। यानी करोड़ों-करोड़ों हिन्दू हजारों वर्षों से एक ऐसी बर्बर और कुत्सित सामंती कहानी को संस्कृति का सर्वोच्च मानक मानकर उसी में सॉस लेते आ रहे हैं, जिसमें अवैध संतानोत्पत्तियों तथा पुत्र के द्वारा पिता अथवा पत्नी के द्वारा पति की नृशंस हत्या के 'पैलेस इट्रीज' के सिवा और कुछ नहीं। जहां दशरथ की नियोजित हत्या को राम के विद्रोह में प्राण-त्याग के झूठ से ढका जाता है और हत्या का भय गंज जगल का भाग राम के मुद्दिका

घूस में दकर रातों-रात गगापार भागने को पिता के वचन की रक्षा में वनवास-ग्रहण की मिथ्या गरिमा से । और ऊपर से निषादराज गुह की रामभक्ति का पलोथन और चढ़ा दिया जाता है ।--- और अन्त में राम-लक्ष्मण के लव-कुश के द्वारा गला दबाकर नदी में डुबा दिये गये होने के ऐतिहासिक द्रष्टव्यक यथार्थ पर राम के महाकाल से सवाद^१ की कलई कर दी जाती है ।

समझना मुश्किल है कि रामकथा पर बाद के भक्त कवियों के द्वारा चढ़ाई गई पल्लोथन को झाड़ने का आपका यह काम आत्मस्फूर्त है, या कि किसी गुप्तचर संस्था के द्वारा सौंपा गया ।

अगर आपका इगदा हिन्दू जाति के अधविश्वासों को दूर करने का होता, तो लेख में यह अतर्विराध कदापि नहीं रहता कि एक तरफ तो रामायण को काव्यों और महाकाव्यों का हजारों सालों का मिलमिला और भारतीय मानस के लिए किसी भी इतिहास से बड़ी सच्चाई बताया, और दूसरी तरफ डके की चोट पर कहा जाय कि वाल्मीकि-रामायण सैकड़ों-हजारों सामंती अतः पुराणों की हत्यारी कहानियों के प्रस्थान-बिन्दु से दीगर कुछ नहीं।

आप-जैसे प्रबुद्ध तथा हिन्दी साहित्य के शीर्ष पर स्थापित लेखक को बताने की जल्दगी हागी कि महाकाव्य 'पैलेस इट्रीज' की देन नहीं, बल्कि अनन्य सृजनात्मक मेधा के धनी महाकवियों की सृष्टि हुआ करते हैं ? महाकाव्यों में युग-युग की सचित मूल्यदृष्टि, संवेदना और शब्द-रूप-शिल्प आकार लेते हैं। किसी महाकाव्य में से बाकी सारे सारतत्वों को छाड़कर, सिर्फ 'पैलेस इट्रीज' को सूँघकर सामने रखना ठीक वैसा ही है, जैसा मक्खी शरीर में से सिर्फ गन्ध को उठाकर सामने रखती है।

दो में से एक बात झूठ है। या 'रामायण' महाकाव्य है और या सिर्फ एक बर्बर-विकृत सामंती कहानी। आपको जरूरी था कहना कि 'रामायण' हिन्दुओं का धर्मग्रंथ चाहे जितना हो, काव्य या महाकाव्य के सारतत्त्व इसमें कतई नहीं। कोई कृति इतिहास से बड़ी सचाई और निहायत ही सामान्य तथा विकृत और बर्बर सामंती कहानी, दोनों साथ-साथ कैसे

१- शृणु राजन् महाम्यत्वं यदर्थमहमागत ।

पितामहेन दवेन प्रेषितोस्मि नहाबल ।।

स त्व मनामय पुत्र पूर्णायुर्मानुषेष्विह ।

काला ऽयं तं नरश्रेष्ठ समीपमुपवर्तितुम् ।।

श्रुत्वा पितामहनाक्त वाक्य कालज्यमीरितम् ।

गधव प्रहसन वाक्य सर्वमहाग्वीत ।।

(काल का गुम संस्कार, सम्पादन, उत्तरकाण्ड सर्ग १०४)

(काल का राम से शवाद रामायण उत्तरकाण्ड सर्ग १०४)

होगी ? आपको दोटूक कहना था कि 'रामायण' पर आस्था और इसके प्रति अनुराग का कारण हिन्दू जाति का बुनियादी तौर पर ही इतिहास, संस्कृति और काव्य या धर्म के विवेक से शून्य होना रहा है।

जो जाति एक निहायत ही सामान्य और विकृत सामंती कहानी को हजारों सालों तक अपने सांस्कृतिक महाकाव्य के रूप में छाती से चिपकाये रहे, उसकी संवेदना और चेतना पर सचाई के कोड़े फटकारना अध-विश्वासों के अधरे को छाँटने की पहल करना ही होगा, लेकिन आपकी पहल यह नहीं है। आप या तो पहले एक निहायत सामान्य सामंती कहानी पर काव्य-महाकाव्यों का हजारों सालों में फैला सिलसिला और किसी भी इतिहास से बड़ी सचाई होने की राख चढ़ाकर, तब हिन्दू समाज की आस्था और संवेदना पर चोट करने की चालाकी बरतना चाहते हैं- और या इस तथ्य को चुपचाप गटक जाना चाहते हैं कि खतरनाक सच नहीं, झूठ होता है।

लेख का आपत्तिजनक पक्ष 'रामायण' की कटु आलोचना नहीं, बल्कि झूठी, मनमानी और विकृत विवेचना है। आपने अपने निष्कर्षों को या तो खुद झूठा सिद्ध किया है और या झूठ को सच बनाने के लिए अनुमान-मात्र को पर्याप्त समझ लिया है। दोनों ही स्थितियाँ खतरनाक नासमझी का सबूत हैं।

पूरे लेख में 'रामायण' की किसी एक भी अच्छाई का कहीं कहीं कोई उल्लेख नहीं, जबकि 'रामायण' को 'पैलेस इट्रीज' की सामान्य- सी किताब साबित करने के लिए लव-कुश से राम-लक्ष्मण का गला दबवाने तक में कोई सकोच नहीं किया गया है। लेख का कुल निचोड़ यह है कि मूल रामकथा में कैकेयी, भरत या राम-लक्ष्मण में से किसी के द्वारा दशरथ की हत्या, राम के प्राणभय से जंगल में पलायन और अंत में लव-कुश के द्वारा राम-लक्ष्मण को, गला दाबकर, सरयू में डुबो देने की सच्ची ऐतिहासिक घटनाएँ रही होंगी। बाद में वाल्मीकि-तुलसीदास आदि भक्त कवियों ने 'ऐतिहासिक घटनाओं' पर भक्ति की पल्लोथन चढ़ा-चढ़कर 'पैलेस इट्रीज' की सत्यकथा को महाकाव्यों का जामा ओढ़ा दिया।

लव-कुश से राम-लक्ष्मण का गला दबवाने के लिए खुद की समझ, दृष्टि और संवेदना का गला दबाना जरूरी हो जाय, तो भी व्यक्ति को एक क्षण को थमकर, इतना तो कम-से-कम देख ही लेना चाहिए कि कहीं कोई देख तो नहीं रहा। ----क्योंकि लिख को दूसरों तक पहुँचाने से पहले खुद ध्यान से देख लेना जरूरी है कि वह सच है, या झूठ। झूठ संतुलन को बिखेर देता है। हालाँकि आपने बाबा साहब अम्बेडकर के लेख को 'हस' में प्रकाशित करने के बावजूद यह चुटकी जरूर ली है कि आज के आग्रहो-पूर्वाग्रहो से 'रामायण' के प्रसंगों को जाचना हमें अम्बेडकर की तरह असंतुलित कर सकता है। ----लेकिन खुद का संतुलन खोना आपको स्मरण नहीं रहा।

बहरहाल बिल्कुल सम्भव हो सकता है कि मेरी यह प्रतिक्रिया ही गलतोंटू प्रवृत्ति की

उपज हो।--- इसलिए उपकृत होऊँगा यदि बताने की कृपा करें कि 'रामायण' को समग्रमुच किस श्रेणी में रखना चाहेंगे आप ? स्मरण रहे, लेख के प्रारम्भ में ही एकबार आप कह चुके कि- 'रामायण' इतिहास नहीं, काव्य है। हालांकि यह आप कतई नहीं बताते कि जो इतिहास न हो, वह 'पैलेस इट्रीगज' का दस्तावेज कैसे होगा। काव्य तो जासूसी सत्यकथा होता नहीं ?

किसी किताब को काव्य मानते ही अनेक झझटें स्वयं समाप्त हो जाती हैं। तब उसके काल्पनिक या ऐतिहासिक होने का सवाल भी स्वतः हल हो जाता है, क्योंकि इतिहास, काव्य या कथा में भी इतिहास, इतिहास ही रहता और इसी दृष्टि से देखा जाता है, जबकि काव्य को ठीक यही दर्जा इतिहास की किताबों में नहीं दिया जाता। महात्मा गांधी पर कोई महाकाव्य रचे और उसमें दिखाए कि उन्हें पंडित जवाहरलाल नेहरू या सरदार पटेल ने गला दबाकर मार डाला था, तो इसे झूठ साबित करने में कोई बाधा नहीं होगी।--- लेकिन वाल्मीकि अगर बता रहे हों कि राम ने, काल के इंगित पर अपने प्रयोजन को समाप्त हुआ मानकर, सरयू में आत्मविर्सजन किया, तो इसे 'पैलेस इट्रीगज' के तहत लव-कुश के द्वारा गला दाबकर की गई हत्या साबित करने का रास्ता क्या होगा ?

अगर वाल्मीकि-कृत 'रामायण' में सीता को राम की बहन या रावण की बेटी नहीं बताया गया, तब 'बौद्ध रामायण' के उद्धरण किस मर्ज की दवा होंगे ? जब 'वाल्मीकि रामायण' नहीं, तो 'बौद्ध रामायण' किस तर्क से इतिहास बन जाएगा ? जनश्रुतियों के तथ्य लिखित 'रामायण' के तथ्यों से ज्यादा प्रामाणिक क्योंकर हो जाएँगे ?

जहां तक हमारे मतव्यों की तुष्टि होती हो, वहां तक इतिहास, और जहां नहीं हो, वहां क्षेपक मान लेने की द्वन्द्वत्मक इतिहास-बुद्धि को क्या कहा जाय ? जबकि क्षेपकों की प्रक्षिप्ति को भी जाँचने का आधार यही हो सकता है कि वृत्तांत मूल काव्यदृष्टि और अतर्वस्तु से मेल खाते हैं, या नहीं।

कोई भी वस्तु सवाल से ऊपर नहीं। 'रामायण' में लिख दिये गये होने से ही कुछ नहीं हो जाता अगर कि लिखा गया हित में नहीं। जो-कुछ देश-काल और समाज से विसंगत हो, उसकी कटु आलोचना जरूरी है। इसलिए बताना जरूरी होगा यह कि 'रामायण' के किन अंशों से किसी समाज की क्या क्षतियाँ हो रही हैं। यह नहीं कि कैकेयी-कौशल्या या राम-लक्ष्मण ने दशरथ और लव-कुश ने राम-लक्ष्मण का गला दबाया, या नहीं।

'शम्बूक वध' स्वतः ही 'रामायण' से विसंगत इसलिए दिखाई पड़ता है कि वह राम की अवधारणा, या कहें कि काव्य की अतर्वस्तु (करुणा) के विपरीत जाता है। 'शम्बूक-वध' इस बात का प्रतीक है कि कुकृत्य जितने बड़े व्यक्ति के द्वारा हो, उतना ही और वीभत्स हो जाता है।

वाल्मीकि से बड़ी इतिहासबुद्धि का दावा रखने में कुछ नहीं रखा। जो खुद के लिखे से अपने ही समय में सौ-पचास लोगो की संवेदना और आस्था तक का केन्द्र बनने का

सामर्थ्य नहीं रखते हो, उन्हें हजारों सालों से व्यापक मानव समाज की स्मृति और आस्था का केन्द्र बने महाकाव्यों पर उगली उठाने से पहले इतना जरूर देख लेना चाहिए कि उगली का रुख किस तरफ है।

द्वन्द्वत्मकता के सत्य सामान्य नहीं, लेकिन झूठ से इन्हें पाना असम्भव है। लाखों-करोड़ों लोगों की संवेदना और आस्था पर कोड़े फटकारने से पहले, इतना बहुत ध्यान से देख लेना जरूरी होगा कि हमारे हाथ क्या हैं- सच या झूठ ? जिस तरह के अध तर्कों की बौछार 'रामायण' पर हो रही है, ऐसी कुरान, बाइबिल, इजील, जावेस्ता या गुरुग्रंथ साहब वगैरह पर हो, तो इसे भी सिवा एक घृणित और खतरनाक कोशिश के और कुछ नहीं कहा जायेगा।-- क्योंकि, जैसा कि पहले ही कहा , ऐसा सिर्फ तभी किया जा सकता है, जब उद्देश्य एक समुदाय-विशेष की आस्था और संवेदना पर कोड़े फटकारना हो।

इतिहासकार या शोधकर्मी का साध्य संवेदना नहीं। ये संवेदना के सवाल को हाशिये पर रख सकते हैं और यह काफी हद तक उनके कार्य का जरूरी अंग भी हो सकता है, लेकिन लेखक का काम संवेदना से खिलवाड़ नहीं।--- क्योंकि आदमी को संवेदना ही नहीं, बल्कि विचार के धरातल पर भी कब, कहा, कैसे और कितना स्पर्श करना चाहिये, इसका लेखक से बड़ा चितेरा कोई नहीं। एक पूरे समाज की तो बात ही छोड़ दें, नितांत सामान्य सड़क पर के आदमी की संवेदना से भी लेखक खिलवाड़ कभी नहीं कर सकता , क्योंकि उसका तो सारा ताम-झाम ही संवेदना की धुरी पर टिका है। संवेदना से खिलवाड़ उसे ले डूबता है।

आज हम कुरान पर कीचड़ उछालें, और कल मुसलमान इसके विरोध में हगामा खड़ा करें, तो इसे साम्प्रदायिकता का विस्फोट करार दिया जाय, ऐसी विकृत धर्मनिरपेक्षता से बच रहने में ही कुशल होगी। धर्मनिरपेक्षता का मतलब दूसरों की संवेदना और आस्था से मनमाना खिलवाड़ करने की छूट नहीं होता। हिन्दी के ऐसे तमाम तथाकथित धर्मनिरपेक्ष बुद्धिजीवी बुनियादी तौर पर खलबुद्धि हैं, जो पहले हिन्दू समाज की संवेदना और आस्था पर कोड़े फटकारने और फिर इसकी प्रतिक्रिया को हिन्दू साम्प्रदायिकता का विस्फोट करार देने की बुद्धिमानी दिखाना जरूरी समझते हैं। ऐसे तमाम तथाकथित धर्मनिरपेक्ष बुद्धिजीवी, इस तरह की गतिविधियों से कट्टरपंथी साम्प्रदायिकों के आधार को ही मजबूत करते हैं।

इतना फिर कहना है कि अगर यह सच हो कि महाराज दशरथ की हत्या की गई थी, राम प्राणभय से जंगल में भागे थे और अंत में लव-कुश ने भी राम-लक्ष्मण का गला दबाकर, नदी में डुबोते हुए, एक सामान्य 'पैलेस इट्रीग' की स्वाभाविक परिणति को ही चरितार्थ किया था, तो यह सचमुच सत्ता के द्वन्द्व के द्वन्द्वत्मक सत्य का ही प्रमाण होगा, लेकिन इसे सच साबित करने के लिए सिर्फ आपके स्वतः स्फूर्त अनुमान ही काफी नहीं होंगे। क्योंकि तब हम भी इस अनुमान को स्वीकार करें कि रामायण-काल में, लव-कुश के इशारे पर, राम-लक्ष्मण का गला दबाने का काम कहीं आपके द्वारा ही तो नहीं किया

गया? ---क्याकि जिस स्वतः स्फूर्ति इतमीनान के साथ आपने लव-कुश के द्वारा राम-लक्ष्मण की (सामन्ती) हत्या का क्षेपक छोड़ा है, उसमे लगभग चश्मदीद गवाहो वाला तेवर है।

आप हम यह भी बताते हैं कि-

‘सिंहासन के लिए संघर्ष की यह स्वाभाविक और तार्किक परिणति ही थी कि राम के साथ भी वही हुआ, जो उन्होंने या भाइयों ने दशरथ के साथ किया था। यानी यहा भी वास्तविक उत्तराधिकारी (लव-कुश) तपस्वी वेश में ही जंगल में बड़े-पले हैं और सिंहासन के लिए बाकायदा बाप-चाचाओं से युद्ध करते हैं- या यह ठीक वैसा ही युद्ध है, जो महाभारत में हुआ, सोहराब-रुस्तम के बीच हुआ या जहागीर ने अकबर के खिलाफ तलवार उठायी--- अतीतवादी किसी-न-किसी तरह उस सबको आज के मानक से भी सही महान् सिद्ध करता है। इसके लिए चाहे उसे विज्ञान को वहाँ ठूसना पड़े, शास्त्रों की मनमानी व्याख्या करनी पड़े या फिर मूल पाठ के ही कुछ अशों को हर नये युग में क्षेपक सिद्ध करके तोड़-मरोड़ करना पड़े। (‘हस’ - संयुक्तांक १६८८, पृष्ठ -३०)

महामते

विज्ञान को भाड़ में झाँककर, कोरे काल्पनिक मिथको को आज के मानक से भी सही और महान् बताने वाले अतीतवादी से कम खतरनाक वह वर्तमान या भविष्यवादी नहीं होता, जो पुराणमिथका को आज की ‘माया-मनोहर-नूतन कहानियाँ’ - मार्का अपराध-कथाओं की नकल में सामंती ‘पैलेम इट्रीज’ करार देता हुआ, उनमें मनमाने क्षेपक जड़ता जाए।

आपने यह भी स्पष्ट नहीं किया कि किसी अतीतवादी के द्वारा मिथक-कथाओं में विज्ञान ठूसने जान की तुलना में, किसी जनवादी के द्वारा महाकाव्यों में स्वयं के विकृत अनुमान ठूसना कैसा विज्ञानसम्मत होगा ? जहा तक तोड़-मरोड़ का सवाल है, कसर तो इतनी आपने भी नहीं रखी, भते ! पहले राम-लक्ष्मण से दशरथ और फिर लव-कुश के द्वारा राम-लक्ष्मण का गला मरोड़वाने का किस तर्क से तोड़-मरोड़ की श्रेणी में नहीं रखा जायगा ?

उठाई हागी जहागीर न अकबर के खिलाफ तलवार- लेकिन, अतीतवादी होने के बावजूद, हम तो ‘रामायण’ के खिलाफ उठी आपकी कलमकटारी की चमकार ज्यादा रोमांचक प्रतीत हो रही है ! हम बाबा साहब को रो रहे थे, आप ‘बाबाआदम’ निकले !

क्षेपकशिरोमणे,

सचमुच अधेर में हूँ। रास्ता दिखाएँ। आप कोई सामान्य लेखक नहीं। विश्व साहित्य के अध्ययन के साथ-साथ, रचना और आलोचना की एक गहरी दीक्षा और अनुभव-सम्पदा है आपके पास। आपके सामने मरी कोई हैसियत नहीं। लोग आपके लिख का ही महत्व दोगे, मरे नहीं। लेकिन फिर भी इस बिन मॉगे की छेड़छाड़ को क्षम्य मानोगे, क्योंकि इसके पीछे छेड़ने के अतीतवादी शौक में छेड़छाड़ का इरादा नहीं, बल्कि

46/किसके राम कैसे राम

यह अनुभव और विश्वास है कि बिना झिझोडे-झकझोरे न पेड से कुछ प्राप्त किया जा सकता है, न विद्वन् से।

राम -राम ।

आपका
शैलेश मटियानी

[हस सयुक्ताक १६८८ मे तीन चौथाई सक्षेप के बाद प्रकाशित]

सेवा मे,
श्री राजेन्द्र यादव,
सम्पादक-‘हस’,
दिल्ली- ११०००२

राम का नाम

नवी से दसवी लोकसभा के चुनाव के बीच की अवधि में राम का नाम 'वोटबैंक' या हिन्दू मानस के ध्रुवीकरण के मुकाम तक पहुँच गया, तो इसे भाजपा की चुनावी राजनीति का करिश्मा करार देना, क्या सचमुच स्थिति का सही-सही आकलन करना होगा ? या कि इस मामले के कुछ और पैच भी होंगे ?

माना कि भाजपा की कमण्डल-राजनीति के भारतवर्ष-जैसे विशाल तथा अनेकानेक ऐतिहासिक-सांस्कृतिक-सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक तथा भौगोलिक पृष्ठभूमियों वाले देश को देखते, कुछ नितात स्वाभाविक और नाजुक खतरे भी होंगे- और इनमें बहुघोषित हिन्दू पुनरुत्थानवाद की देश के अन्य समुदायों पर होने वाली प्रतिक्रियाओं का सकट भी जरूर शामिल होगा- लेकिन पहली बात तो यह कि मण्डल की जातिवादी राजनीति की शतरज बिछाने के बाद कमण्डल-राजनीति की भर्त्सना का नैतिक या राजनैतिक तर्क ही कहा बच रहेगा ? दूसरे, जब अल्पसंख्यकों के राजनीतिक ध्रुवीकरण की प्रक्रिया स्वाधीनता के तुरंत बाद ही शुरू कर दी गई हो, तब बहुसंख्यकों के ध्रुवीकरण की सम्भावनाओं पर मुह बिचकाने से बात बनेगी कैसे ?

स्वाधीनता-बाद के लगभग चार दशकों तक, सत्ता-समीकरण की दृष्टि से, देश के राजनीतिक परिदृश्य में लगभग नेपथ्य में ही विद्यमान रहने वाली हिन्दू राष्ट्रवादी भाजपा अगर पिछले कुछ ही वर्षों में सत्ता-राजनीति की एक मुख्य दावेदार के रूप में सामने खड़ी दिखाई दे रही है, तो जाहिर है कि इससे पहले नेपथ्य में पड़े रह जाने और अब मुख्यमंच पर आ धमकने के भी कुछ बुनियादी कारण होंगे जरूर । क्या राम का नाम इन बुनियादी कारणों में से एक कहा जा सकता है ? यदि हाँ, तो देश के राजनैतिक महासमर में राम का नाम जपते हुए शामिल होने की कूटनीति क्या भाजपा को अब कहीं जाकर पहली बार सूझी होगी ?

जाहिर है कि कारणों के भी कुछ अपने कारण हैं और ये आज मुह उघाड़े सामने हैं, तो इस स्थिति का प्रस्थान-बिन्दु उस भाजपा को नहीं माना जा सकेगा, जिसे कई बार

अपना नामांतरण तक करना पड़ चुका है और जिसका स्वाधीनता संग्राम के दौर में कोई पृथक् राजनैतिक अस्तित्व ही नहीं था। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की भी कुल जमा हैसियत तब सामुदायिक संगठन-मात्र की थी। ऐसी स्थिति में अगर राम के नाम या राम जन्मभूमि के मुद्दे को हम भाजपा के देशव्यापी राजनैतिक ध्रुवीकरण का केन्द्रबिन्दु माने भी, तो देखना जरूरी होगा कि ऐसा राम जन्मभूमि का ताला खुलवाने में एकमात्र भागीदार कांग्रेस पार्टी क्यों नहीं कर पाई। -- दूसरे, धर्मनिरपेक्षता का जो अभियान, एक लम्बे समय तक, हिन्दू बहुसंख्यकों के कंधों के ऊपर ही टिका रहा - उसका सारा श्रेय अगर कांग्रेस को ही था, और है, तो कांग्रेस पार्टी के ज्यो-का-त्यो बरकरार होते भी, यह आज इतनी बुरी तरह लड़खड़ा क्यों गया है ?

सच्चाई यही है कि हिन्दुओं का एक बहुत बड़ा तबका ही उस घोषित धर्मनिरपेक्षता का मूल आधार था, जिसे कांग्रेस पार्टी ने, अल्पसंख्यकों की राजनीति खेलने की चालाकी और मुसलमान नेताओं के निहित स्वार्थों की रक्षा में, धार्मिक कानूनों के चोर-दरवाजों से सविधान को ही एक शुद्ध साम्प्रदायिक सविधान की शक्ल दे डाली। यह बात यहाँ इसलिये कि ताकि इस वास्तविकता को रेखांकित किया जा सके कि राज्य की धर्मनिरपेक्षता मूलतः भारतीय संस्कृति की देन रही है- कांग्रेस, कम्युनिस्ट पार्टियों या जनता दल की नहीं, जो कि आज धर्मनिरपेक्षता के एकछत्र अलम्बरदार होने का दावा कर रहे हैं। और चूँकि धर्मनिरपेक्षता, अर्थात् देश के धर्म से ऊपर होने, की अवधारणा को वास्तविक आकार देने में हिन्दू समाज की ही भूमिका मुख्य रही है, इसलिये आज भी व्यापक हिन्दू समाज का संवेदनात्मक या राजनैतिक प्रतिनिधित्व करने वाली संस्थाओं को हाशिये पर डालकर, धर्मनिरपेक्षता का सिर्फ पाखण्ड ही किया जा सकता है, क्योंकि भारत में बहुसंख्यक हिन्दू ही धर्मनिरपेक्षता का मुख्य आधार हो सकते हैं।

भाजपा को साम्प्रदायिक पार्टी करार देने वाली तमाम तथाकथित धर्मनिरपेक्ष पार्टियों का मूल चरित्र अल्पसंख्यकवादी तथा जातिवादी होने से, यह इनके वश की बात ही नहीं कि ये भारतवर्ष में धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा का व्यावहारिक प्रतिफलन सम्भव बना सके। भाजपा को एक किनारे हटाते ही भारत का धर्मनिरपेक्ष ढाँचा चरमराकर बिखर जायेगा। इसलिए भाजपा को अगर राजनैतिक शिकस्त भी देनी हो, तो राम के नाम या रामजन्मभूमि के मुद्दे को 'हिन्दू फासिज्म' की हिकारत-भरी सजा देने से पहले, इस सवाल में जाना जरूरी होगा कि भारत के सन्दर्भ में राम के नाम का मतलब क्या है। यह भी कि इस राम-नाम के ततु फैले कहा-कहा तक हैं और कितनी गहराइयों में।

भाजपा को राम-नाम या राम जन्मभूमि के सवालों की एकछत्रता सौंपते ही हिन्दू-समाज के कम-से-कम पचास प्रतिशत लोगों को भाजपा से जोड़ देने की पहल अपने-आप ही हो जायेगी, क्योंकि हिन्दू समाज भाजपा के कारण राम-नाम या राम जन्मभूमि से नहीं जुड़ा और अगर भाजपा इसका राजनैतिक लाभ उठाना चाहती है, तो बाकी की राजनैतिक पार्टियों को, भाजपा को खतरा करार देने से पहले जरा खुद का मुखड़ा भी दर्पण में देख जरूर लेना चाहिये।

गांधी का कट्टरपथी हिन्दू कहना कट्टरपथी मुसलमानों तक को आसान नहीं ही होगा, और अगर गांधी अपने राजनैतिक संघर्ष के गहनतम क्षणों में 'रामराज्य' की अवधारणा तक पहुंचे थे, तो किसी धार्मिक उन्मेष में नहीं, बल्कि शताब्दियों की दासता के बाद भी भारत की अंतर्गत्ता में अंतःसलिला की भांति विद्यमान उस रामनामी संस्कृति के स्मृतों का आक्षात्कार करके, जो इस देश के बहुसंख्यक समाज की सांसों में समाई हुई है। स्मरण रहे कि किसी भी देश में वहां के बहुसंख्यकों को हाशिये पर डालकर, कोई स्मृतिगत पहल कभी की ही नहीं जा सकती, क्योंकि अल्पसंख्यकों का हमलावर के रूप में बहुसंख्यकों पर हावी हो जाना अलग बात है और बहुसंख्यकों के बीच साझा जीवन चलाना बिल्कुल दूसरी बात।

भारत के मुस्लिम शासकों की यह गहरी राजनैतिक दूरदर्शिता थी कि उन्होंने अंग्रेजों की तरह बहुसंख्यक हिन्दुओं को गुलामी की शक्ति देने की कठमगजी नहीं दिखाई। जिसे हम हिन्दू-मुस्लिम साझेदारी कहेंगे, इसका बहुत बड़ा श्रेय उन मुसलमान शासकों को जाता है, जिन्होंने भारत के सांस्कृतिक विमान को उड़ा देने की जगह, अपने को उससे जोड़ लेने की पहल की और परिणाम के तौर पर वह हिन्दू-मुस्लिम साझा रंग लाया, जिसे यहां की सांस्कृतिक विरासत ही नहीं, बल्कि देश के अधिसंख्य गांवों की सामाजिक-आर्थिक जीवनप्रणाली में भी नितांत पारदर्शी स्तरों पर देखा जा सकता है।-- और कहना होगा कि अगर इस देश में सचमुच धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा की जानी थी, तो भारत के हिन्दू-मुस्लिम साझा आबादी वाले गांवों को केन्द्र में रखकर, वहां से सबक सीखा जाना चाहिये था, लेकिन चूंकि देश के दुर्भाग्य से कांग्रेस-जैसी शुद्ध औपनिवेशिक नेतृत्व वाली राजनैतिक पार्टियों के हाथों में सत्ता की बागडोर रही, इसलिये वो शहर राजनीति के केन्द्र में आ गये, जिनके अल्पसंख्यक नेतृत्व की जड़ें भारत की मिट्टी में न होकर, सिर्फ किताबी इस्लाम में रही हैं।

यहां, राम-नाम के प्रसंग में, किताबी इस्लाम का जिक्र इसलिये कि धर्म को देश के हिसाब से चलाने के नतीजे बिल्कुल अलग होंगे और देश को धर्म के हिसाब से चलाने के बिल्कुल अलग। धर्म को देश के हिसाब से चलाने की प्रक्रिया के परिणाम भारत के गांवों के हिन्दू-मुस्लिम साझे में देखे जा सकते हैं-- और देश को मजहब के हिसाब से देखने के दुष्परिणाम उस शहरी मुस्लिम सिमासत में, जो एक पाकिस्तान पैदा कर चुकने के बाद भी अपने में कोई बुनियादी बदलाव नहीं ला पाई है और आज का यह हिन्दू पुनरुत्थानवाद इसीकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया में उदित हुआ है, जो इस्लामी कट्टरपथियों की नकल में 'हिन्दू राष्ट्रवाद' के नारे उछालते में इस सचाई को भूल ही जा रहा है कि गलत की नकल भी हर हाल में गलत ही होगी।

इतना मानने में कोई एतराज किसी को नहीं होना चाहिये कि अगर राष्ट्रीयता के वस्तुगत अर्थ में शून्य राष्ट्रवाद निर्णायक आकार लेगा, तो इससे देश की अत्यन्त ही गम्भीर क्षति होगी जरूर क्योंकि राष्ट्रवाद मनुष्य के सांस्कृतिक-सामाजिक या कि संस्कृति और समाज के मानवीय संस्कारों की समझ से शून्यता का ही दूसरा नाम हुआ

करता है। --लेकिन अगर किताबी इस्लाम की रट बढती गई, तो किताबी हिन्दुत्व भी जड़ें पकड़ेगा जरूर और अतंत देश की राजनीति में दोनों ओर से ऐस तत्व हावी होते जाएंगे, जिनकी जड़ें, जैसा कि पहले ही कहा, किताबों में हैं- भारत की मिट्टी के भीतर नहीं। जबकि अगर किताब मिट्टी से जुड़ी नहीं, तो शैतान के हाथों की बाइबिल है।

कालांतर में हम इस्लाम का वह रूप भी देख चुके हैं, जिसने 'रामनाम' को मुसलमान को कुफ्र करार देने से साफ इंकार कर दिया। क्या यह कोई मामूली तथ्य है कि अनेकानेक मुसलमान कवियों-संतों के द्वारा राम-नाम को अपने काव्य ही नहीं, बल्कि जीवनपद्धति तक में शामिल करने की शुरुआत मुसलमान शासकों के राज्यकाल में हुई हिन्दू राजाओं के शासनकाल में नहीं।

हमें इस ऐतिहासिक सच्चाई को भी ध्यान में रखना ही होगा कि आखिर क्यों कर सम्भव हुआ कि मुसलमान शासकों के राज्यकाल में बने हिन्दू-मुस्लिम साझे को अग्रेज कूटमगजों के लिये भी तोड़ना आसान नहीं ही हो सका। जबकि आज हम देखते हैं कि धर्मनिरपेक्षता का ढोल गले में लटकाये घूमने वाली तमाम राजनैतिक पार्टियों के दौर में हिन्दू-मुस्लिम दंगों का जहर अब गांवों की तरफ भी बढता जा रहा है और देश की सामाजिक एकात्मता के लिये सबसे खतरनाक यह शहरों की राजनैतिक गन्दगी का गांवों की तरफ पाव फैलाते जाना ही है।

हमें भूलना नहीं चाहिये कि ताली एकतरफा कभी नहीं बजेगी। अगर साझेदारी बढी थी, तो इसमें भी हिन्दू-मुसलमान, दोनों के हाथ लगे होंगे और इसके बिखरने का अदेशा बढ रहा है, तो इसकी जिम्मेदारी भी दोनों पर ही आयद होगी जरूर। लेकिन फिर और जोर देना होगा इस बात पर कि रामनाम या रामजन्मभूमि के मुद्दों पर अगर भाजपा को देश की राजनैतिक मुख्यधारा से काट फेंकने की खतरनाक साजिश की गई, तो धर्मनिरपेक्षता की सारी लंतरानिया हवा में झूलती रह जाएँगी, क्योंकि भारत में धर्मनिरपेक्षता की कोई भी सभावना सिर्फ बहुसंख्यक हिन्दुओं के साझे में ही आकार ले सकती है। पाकिस्तान के बाद भी भारत हिंदू राष्ट्र नहीं बना, तो इसका कारण हिंदुओं का कट्टर धर्मवादी नहीं होना ही है।

इसलिए, भाजपा पर हिकारत बरसाने से पहले, बहुसंख्यक हिन्दुओं के मानस में उभरे उद्वेलनों को बहुत धैर्य और ध्यान से देखता होगा, क्योंकि इतना तय समझ लिया जाए कि जब भी राम का नाम हवा में गूजेगा, इसकी अनुगूज देश के उस कोने-कोने तक पहुँचेगी जरूर, जहा कि हिन्दू रहते होंगे।-- क्योंकि राम का नाम हिन्दू समाज की सर्वोच्च सांस्कृतिक-ऐतिहासिक/सामाजिक ही नहीं, बल्कि बाकायदे भौगोलिक उपलब्धि भी है।-- और आज अगर भाजपा इसे अपनी राजनैतिक धुरी बनाना भी चाहती है, तो इसे व्यापक हिन्दू समाज के संवेदनात्मक उद्वेलनों पर धूल डालकर रोकना सम्भव हो नहीं सकेगा, क्योंकि जहा एकबार हिन्दू संवेदना का धुवीकरण हुआ, वह अगर अपनी आकाक्षाओं का प्रतिबिम्ब भाजपा में नहीं देख सका, तो कोई और विकल्प खोजेगा जरूर,

इस खतरे की झलक १९८४ में कांग्रेस भी दिखला चुकी है।

इसके अलावा, राम-नाम के बहाने, इस सवाल को सामने रखना भी अप्रासंगिक नहीं ही माना जाय कि किसी देश के वर्तमान और भविष्य में उसके अतीत की भी कोई भूमिका हुआ करती है, या नहीं। होनी चाहिये, या कि नहीं ? जाहिर है कि इस्लाम का अतीत, भारत के संदर्भ में, सही मायने- या निर्णायक तौर पर- इतना बड़ा नहीं कि हमारी स्मृति का सिरा वहां तक जाकर ठहर जाय।

स्मृति ही मनुष्य की मुख्य धुरी है और आदमी का संवेदनात्मक ही नहीं, बल्कि बौद्धिक संसार तक सिर्फ इस एक बात पर निर्भर होता है कि उसकी स्मृति कहां तक जा सकती है, क्योंकि स्मृति का सिर्फ एक ही छोर नहीं होता। स्मृति जितनी दूर तक अतीत, उतना ही भविष्य में भी जायेगी जरूर। आने वाली सातवीं पीढ़ी के लिये वृक्ष लगाने की फिक्र और ऐसी नैतिक-सामाजिक प्रतिश्रुति, स्मृति में से ही आकार लेती है। जो अपने जीवन में पिछली सात पुश्तों की भागीदारी देख सकें, सिर्फ वही लोग आने वाली सात पीढ़ियों की चिंता भी कर सकते हैं। अपकर्म करते उनके हाथ ही इस चिंता में कांप सकते हैं कि इसका असर हमारी आने वाली सातवीं पीढ़ी तक भी जा सकता है और वही लोग अपने जीवनकाल में फल की लालसा से भी मुक्त रह सकते हैं, जो देख सकते हों कि उनके लगाये वृक्षों के फल अगली कितनी पीढ़ियों तक पहुंच सकते हैं। इस अर्थ में स्मृति संवेदना की मुख्य धुरी ही नहीं, बल्कि आदमी की तीसरी आंख भी है और कुछ भी सही और पारदर्शिता में सिर्फ वही व्यक्ति देख सकता है, जो स्मृति से भी देख सकता हो, क्योंकि काल के तीनों आयामों में सिर्फ स्मृति की ही गति हो सकती है, आंखों की नहीं। बल्कि आंखों से भी सही वही देख सकता है, जो स्मृतिवान हो।

राम का नाम व्यापक हिन्दू समाज की स्मृति का सांस्कृतिक और संवेदनात्मक उद्गम है। और चूंकि यह नाम राजनैतिक नहीं, बल्कि महाकाव्यात्मक उत्पत्ति है, कहना चाहिये कि भारत की जातीय संवेदनात्मक सृष्टि, इसलिये इसने देश और काल की उन सीमाओं का भी अतिक्रमण किया है, जो हिन्दुओं के अस्त्र-शस्त्रों की परिधियों में कमी नहीं आये। शस्त्र की जगह संवेदना से विस्तार की दृष्टि से राम का नाम पूरी पृथ्वी पर का अनन्य है और कदाचित कभी संसार को आज के क्षुद्रबुद्धि खल राजनेताओं से निजात मिली- और मनुष्य अपनी स्मृति के महाविराट में विचरण को स्वाधीन हुआ- तो यह चमत्कार भी बिल्कुल सम्भव हो सकता है कि राम का नाम हिन्दुओं की सीमा से इतनी दूर-दूर तक निकल जाय कि पृथिवी के हर कोने में कबीर का राम उपस्थित दिखाई पड़े। राम का नाम महाकाव्यात्मक संवेदना की सृष्टि है, और महाकाव्यों के थपेड़े पृथिवी के किसी भी कोने तक जा सकते हैं, क्योंकि आदमी सर्वत्र है।

बहरहाल भविष्य की बात को तभी के लिये छोड़ते हुए, पुन इस प्रसंग में लौटा जाय कि स्मृति और अतीत के बीच के सेतु क्या हुआ करते हैं ? और क्या कारण है कि इतिहास की किताबें स्मृति का केन्द्र नहीं बन पातीं ? एक कारण इतिहास का मानवीय अतीत की तुलना में बहुत कम उम्र का होना भी माना जा सकता है, दूसरा- संवेदना की

जगह घटना पर जोर होना भी। जबकि, जैसा कि पहले ही कहा- सवेदना और स्मृति एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इस सन्दर्भ में, राम-नाम या कि रामजन्मभूमि के मामले में विख्यात मान लिये गए इतिहासविद् सर्वश्री गोपाल, गमिता थापर और निपिनचन्द्र तपा अन्य का उल्लेख भी इसालेय कि इन्होंने रामजन्मभूमि के मामले में यह गयुक्त ऐतिहासिक फतवा दिया कि इस बात का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं कि राम का जन्म हुआ भी था कि नहीं।

इतना ही नहीं, 'भारतीय राजनीति के विशद सम्प्रदायीकरण' की चिन्ता में व्याकुल इन इतिहासविदों ने यह दावा भी किया कि- 'जब साम्प्रदायिक ताकतों साम्प्रदायिक चालों को ही ऐतिहासिक तथ्य के रूप में समुपस्थित करें, तो इतिहासकार को अपना दायित्व निभाना ही होगा।' लेकिन इस तथ्य को इन सभी इतिहासविदों ने जान-बूझकर ओझल कर दिया कि मनुष्य की सामाजिक स्थिति ही नहीं, बल्कि नियति तक उसकी सवेदना और स्मृति के तनुओं से गुथी होती है और इस जड-इतिहासवाद की किताबी समझ से नहीं निबटाया जा सकता।

इन इतिहासविदों ने कही नहीं कहा कि राम का नाम बृहत् हिन्दू समाज की सास्कृतिक-धार्मिक विरासत है, और इसके तार भारत की भौगोलिक अवधारणा तक भी गये हैं, लेकिन विश्व हिन्दू परिषद् और भाजपा इसे साम्प्रदायिक आकार दे रही हैं। इनका जोर इस बात पर है कि- जिस राम के जन्म के ही कोई प्रामाणिक ऐतिहासिक साक्ष्य नहीं, उसकी जन्मभूमि का हो-हल्ला क्यों ?

इन जड इतिहासवादियों से यह सवाल पूछा जरूर जाना चाहिये कि खुदा का ऐतिहासिक प्रमाण इनके पास है क्या ? अगर नहीं, तो फिर मसजिदों के नाम पर हाय-तौबा क्यों ?

जाहिर है कि पार्टियों के राजनैतिक मोहरों के रूप में अपनी जिम्मेदारियों निभाने की आदी जड इतिहासवादियों को पार्टियाँ द्वारा दिये गये चौखटों से बाहर जान की छूट नहीं हो सकती। अन्यथा रामजन्मभूमि के नाम पर 'भारतीय राजनीति का विशद सम्प्रदायीकरण' हो रहे होने से व्याकुल ये इतिहासवेत्ता 'भारतीय राजनीति में स्वाधीनता के ठीक पहले से लेकर, आज तक चल आ रहे अल्पसंख्यक सम्प्रदायीकरण' का भी कुछ जिक्र करते जरूर, क्योंकि साम्प्रदायिकता के मामले में अल्प और विशद के तर्क का अल्प को सही बताने की चालाकी में इस्तमाल तो किया जा सकता है, लेकिन इस विश्वसनीयता नहीं दी जा सकती।

अनेकानेक तथाकथित वैज्ञानिक दृष्टिवाले जड इतिहासवादियों की ही भाँति, 'रामायण' और रामकथा के स्वयंभू डार्विन, फ्रायड और मार्क्सवादी एक आधुनिक भाष्यकार^१ ने तो इससे आगे बढ़कर रामजन्मभूमि का रानी कौशल्या का प्रगृहीत-कक्ष कहकर खिल्ली उड़ान में भी सकाच नहीं किया क्योंकि उनके पास भी तथ्य का

धर्मनिरपेक्ष , निवारी-जनताली लेखक सिद्ध करने का सिवा इसके कोई उपाय नहीं कि हिन्दू सवेदना पर जितना थूक सको, थूको जरूर- लेकिन हजरत मुहम्मद साहब के जघ्वाखाने या ईसा के 'लेबर रूम' का हवाला उन्होंने नहीं दिया, क्योंकि साम्प्रदायिकता सिर्फ हिन्दुओं में होती है।

जाहिर है कि इस कोटि के सारे तथाकथित धर्मनिरपेक्षतावादियों को सिर्फ हिन्दूवादी राजनीति से ही परहेज हुआ करता है। य राम का नाम लेने वाले सारे हिन्दुओं को साम्प्रदायिक करार देते कभी नहीं चूकते। इस सवाल में इनकी कोई दिलचस्पी कतई नहीं हुआ करती है कि किसी देश-समाज के सन्दर्भ में उसके अतीत की भी कोई भूमिका होती है, या नहीं- और अगर होती है, तो इसमें सवेदना और स्मृति के मानक क्या हुआ करते हैं ? इतिहास के पन्ने, या कि जीवन के महाकाव्यात्मक मोड़ ?

अब अगर हम कहे कि राम का नाम भारत की सांस्कृतिक-आध्यात्मिक और भौगोलिक अधिरचना की महाकाव्यात्मक सरणि और अतीत तथा भविष्य के बीच का सवेदनात्मक सेतु है, तो हम पर मुह बिचकान से पहले भारतीय समाज की सहस्राब्दियों के फलक पर उत्कीर्ण हुई उस राममयता का ध्यान से देखना जरूरी होगा, जो कि जन्म से मरण ही नहीं, बल्कि जन्मांतरा के क्षितिजों तक भी जाती है।

राम का जन्म हुआ था, या नहीं, इसके ऐतिहासिक प्रमाण नहीं, लेकिन राम का नाम भारत के विशद सांस्कृतिक-सामाजिक और भौगोलिक वितान में किसी भी महानतम इतिहासनायक से ज्यादा गहरे तक सहस्राब्दियों से विद्यमान रहा है, इसके ऐतिहासिक प्रमाणों की कोई कमी कभी नहीं रही है।

भारतीय चिंतन पर हिन्दू धर्म की अवधारणाओं के मामले में देखना जरूरी होगा यह भी कि यहा काल की गणना भी सवेदना और स्मृति से निबद्ध है। दूसरे भारत के सांस्कृतिक-आध्यात्मिक-धार्मिक ही नहीं, बल्कि सामाजिक परिदृश्य में भी, जहा तक विशद हिन्दू समाज का प्रश्न है, शुद्ध देवताओं की उपस्थिति नगण्य ही दिखाई देगी। इसीलिए भारत के सांस्कृतिक-सामाजिक अतीत के केन्द्र में विष्णु या ब्रह्मा नहीं, बल्कि राम का नाम ही घ्याप्त दिखाई पड़ेगा, जिसका कि कृष्ण ही नहीं, बल्कि बुद्धों तक विस्तार गया है।

राम का नाम हिन्दू समाज के धार्मिक से पहले, आध्यात्मिक सवेदनों और विश्वासों की आधारशिला रहा है। राम का देवत्व नहीं, मनुष्यत्व भारतीय समाज की आत्मा को ज्यादा सघनता और समग्रता में प्रतिबिम्बित करता है। और चूँकि धर्मनिरपेक्षता बिना आध्यात्मिक पृष्ठभूमि के सम्भव नहीं है, इसलिए राज्य की वास्तविक धर्मनिरपेक्षता के लिये हर हाल में रामराज्य की अधिरचना के उन अन्त सूत्रों तक जाना ही होगा, जिनकी ओर कि भारत की समकालीन राजनीति के पितृपुरुष गांधी का ध्यान गया था।

दुर्भाग्यवश भारतीय राजनीति के अद्वैत उपक्रम में राम का नाम या राम जन्मभूमि का

देश-काल-समाज में अपेक्षाकृत वृहत्तर अतीत वाले बहुसंख्यकों की संवेदना के उत्सों को हाशिये पर डालकर, धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना की सारी उद्धोषणाएँ अंततः सिवा एक सुनियोजित राजनैतिक चालबाजी के और कुछ साबित होंगी नहीं, अगर कि राजनीति में अल्पसंख्यक-बहुसंख्यक का समीकरण चलाया जाय।

मनुष्य का सबसे बड़ा द्वंद्वशस्त्र-संवेदना के बीच का द्वंद्व है। आज भी विश्व शस्त्रों के मुहाने और संवेदना के हाशिये पर होने की त्रासदी की घपट में ही घुलस रहा है। राम के शस्त्र (रामबाण) की परिधि सिर्फ रावणवध तक ही नहीं, बल्कि प्राणदायी औषधियों तक भी जाती है। हमारा आज का सबसे बड़ा सवाल राज्य के धर्मनिरपेक्ष से भी कहीं ज्यादा हिंसानिरपेक्ष होने का सवाल है। ऐसे में, साम्प्रदायिक दगों के मामले में भी राम और रामजन्मभूमि के सवाल को अल्पसंख्यकों के शक्तिपरीक्षण के मुकाम तक पहुँचाने के पीछे धर्मनिरपेक्षता की आकांक्षा नहीं, बल्कि अल्पसंख्यकों के संवेदनों से खुद के राजनैतिक टिक्कड़े पक्के करने की चालबाजी ही काम कर रही होगी। ऐसे में जाहिर है कि हिंसा के रास्ते समाज नहीं, बल्कि राजनीति और राज्य में से निकलेंगे।

राम का नाम अगर आज भारत के राजनैतिक परिदृश्य के केन्द्र में आ गया है, तो इस पर हिकारत फटकारने से मामला सुलझेगा नहीं। राम के नाम को हिन्दू-मुसलमान के बीच के शक्तिपरीक्षण का विषय भी बनाया जा सकता है और हिन्दू-मुसलमान के बीच का सौहार्द-सेतु भी। अतः इसे हम क्या बनाते हैं, यही हमारे भवितव्य को भी निर्धारित करेगा।-- क्योंकि अगर हिन्दुओं के ध्रुवीकरण का एकमात्र साधन रामजन्मभूमि का विवाद ही हो, तो जाहिर है कि यह ज्यादा दूर तक टिकेगा नहीं।

राजनीति में राम का नाम लेने वालों को भी 'मन्दिर वहीं बनाएंगे और 'मंदिर अभी बनायेंगे' की सीमाओं को पहचानना होगा, अन्यथा राम का नाम ज्यादा दूर, या देर तक उनके काम भी आयेगा नहीं, क्योंकि राम के नाम को भारत के सांस्कृतिक-सामाजिक शोभाशुभ के सवालों से अलग करके नहीं देखा जा सकता।

राम जन्मभूमि की स्थिति अगर अगले दस-बीस या सौ-पचास सालों तक भी यथावत बने रहे, तो इससे न राम को कोई फर्क पडना है और न राम के नाम, या कि उस काम को, जिसे कि राम के नाम से जोड़कर देखना जरूरी हो, क्योंकि राम के नाम से सारी प्रासंगिकता, देश को शुभ होने में है।

तब इसमें क्या हर्ज होगा कि उन सारे सवालों पर एक आर-पार की बहस हो जाय, जो हिंदू को मुसलमान से जोड़ने या कि इन्हें एक-दूसरे के खिलाफ करने के सवाल हैं? बहुत सम्भव है कि तब हमारी समझ में यह बात सचमुच आ जाय कि मौजूदा राजनैतिक पार्टियाँ इस बहस को क्यों टालती चली आ रही हैं।

संयुक्त मोर्चे की सरकार अगर चाहती, तो परस्पर यह बिलकुल तय कर सकती थी कि फिलहाल सिर्फ देश की आर्थिक-सामाजिक स्थितियों में सुधार के लिये एकजुट होकर काम किया जाए। दो-चार साल बिना जातिवाद और जन्मभूमिवाद के भी काम चलाया जा

सकता था, लेकिन साल-भर में ही मण्डल आयोग की सिफारिशों का जहरीला सौंप टाकरी से बाहर निकाल लिया गया, तो राम के नाम की राजनीति का रास्ता भी खुलना ही था।

ऐसे में अगर आज राम के नाम को देश के सांस्कृतिक नेपथ्य से बाहर निकालकर, राजनीति के मंच पर ले आया गया है, तो जरूरी होगा कि राम के नाम को हिंदू-मुसलमान के बीच का सेतुबन्ध बनाया जाए। अर्थात् मामले को अंतिम संभावना- या संभावना के अंतिम क्षण-तक शास्त्र (बहस) और संवेदना से ही तय करने के रास्ते खुले रखे जाएँ। राम का नाम देश की साँसों में समाया हुआ है। इसे साँसत बनाने से बचना जरूरी होगा।

हिंदू-मुसलमान का सवाल

हिंदू और मुसलमानों के बीच के झगड़ों का एक लंबा इतिहास है, जिसकी एक तस्वीर बाहरी हमलावरों और मूल निवेशियों के बीच के युद्धों की भी रही है और चूंकि इतिहास के पन्नों की गवाही भी इन्हें पलटने के उद्देश्य से जुड़ी है, इसलिए इतना हमेशा ध्यान में रखना होगा कि मतव्य क्या है, क्योंकि 'जाकी रही भावना जैसी' का तर्क सिर्फ 'प्रभु-मूरत' तक ही नहीं, बल्कि प्रत्येक कर्म तक जाता है।

हिंदू-मुसलिम के बीच के युद्धों और झगड़ों का इतिहास खगालते में भी भावना का प्रश्न सतत उपस्थित होगा। अर्थात् जैसा उद्देश्य, इतिहास से तैसा अर्थ निचोड़ निकालने की पूरी गुंजाइश होगी। मसलन अगर उद्देश्य मुसलमानों को विदेशी हमलावर और प्रकृति से ही मजहबी सल्तनतवाद, विजातियों के बलात धर्मांतरण की हवस व खूँरेजी का आदी करार दे कर, हिन्दुओं से इनके सामाजिक मेल-मिलाप की सभावनाओं से इकार हो, तब हिंदू-मुसलिम लड़ाइयों और द्वंद्वों का इतिहास भी यही बतायेगा। तब इसके न जाने कितने पृष्ठ मुसलमानों की मजहबी सल्तनत कायम करने की हवस और हिन्दुओं के बलात धर्मांतरण और काफ़िरो के खून का प्यासा होने की गवाही बिल्कुल देगे। यह भी कि देश को एक बहुजातीय या अनेकधर्मी राष्ट्र की जगह, मजहबी सल्तनत के तौर पर देखने का नजरिया मुसलमानों के खून में रचा-बसा रहा है और पाकिस्तान इसी मजहबी सल्तनतवाद की ही खूँखार सृष्टि है।

अब यही हम हिंदू-मुसलिम दगा के पीछे पाकिस्तान, सी आई ए, रूहानी-मजहबी सल्तनतवादी जुटों या भीतरी राष्ट्रद्रोही तत्वों का हाथ खोजने की जगह, इन दोनों के बीच के नासूर के ऐतिहासिक दस्तावेजों के उल्लेखों में जाने का अपना उद्देश्य इसलिए साफ-साफ प्रकट कर देना चाहेगा कि छिपे हाथों की बातों का सिलसिला बहुत बासी और बेमानी सिद्ध हो चुका है। हिंदू-मुसलिम विग्रहों की बुनियादी बहस का सवाल छिपे हाथों की तलाश के सवाल से कहीं बहुत गहरा और पेचीदा सवाल है। इससे मुह चुराने की कोशिश ही हमें या हिंदू अतिवाद के बारे में ले जाती है या हिंदू सांप्रदायिकता की भर्त्सना करके, खुद को धर्मनिरपेक्ष या मुसलमानों का हित दिखा सकने की उस थोथी वैचारिक

उदारता में, जो हमारी शक्ति निहायत नाकारा बिचौलियों की निकालती जा रही है। कम-से कम अब तो हमें इस बात का स्वीकार कर ही लेना चाहिये कि हिंदू-मुसलिम दंगों की बाढ़ में इस थोड़ी वैचारिक उदारता अथवा नाकारा-बेवजूद धर्मनिरपेक्षता के सारे नटबध रत की दीवार साबित होत गये हैं।

व्यावहारिक छोट, वैचारिक स्तर पर भी हमारे पांव कहीं, किसी जमीन पर नहीं टिके हैं। हिंदू सांप्रदायिकता पर भौंकने-खौंखियाने के हमारे मारे कार्यकलाप सिर्फ एक निष्प्रभावी बौद्धिक विनाप सिद्ध हो रहे हैं। वास्तविकताओं का नकार, स्थितियों को स्वयं के आग्रहों की जगह, वस्तुगत दृष्टि से देखने से इन्कार और तलख व बहसतलब सच्चाइयों से खुद को बचा कर चलने की होशियारी के चलते, हम हिंदू-मुसलिम सांप्रदायिकता के जहरबाद की वस्तुगत पहचान से दूर, शुद्ध बौद्धिक तमाशबीनी और वाग्विलासी सिद्धांतवादियों के गिराह में बदलते गये हैं। सतह पर की सिद्धान्तबाजी से ही खुद की शक्ति को धर्मनिरपेक्षता के रंग-रागन से चकाचक दिखा सकने का हमारा इतमीनान लगातार खाखला साबित होता और हमारा चरित्र, अपनी नीयत और नियति, दोनों में व्यवस्था के चरित्र की ही प्रतिच्छाया बनता गया है।

धीरे-धीरे, हिंदू-मुसलिम दंगों में पाकिस्तान या सी आई ए अथवा अरबी खैरातो का छिपा हाथ तलाशने का नाटक करने वाले राजनेताओं की तर्ज पर, हिंदू बुद्धिजीवियों की भी एक एसी जमात अस्तित्व में आती गयी है, जिसका तान ठकुरसुहाती से आगे कभी नहीं जा पाती। जो किनारे के पानी में टखनों तक खड़ा हो कर हिंदू-मुसलिम विग्रहों की मुख्यधारा में जूझता दिखाई पड़ता है। जिसे इस बात से कोई सरोकार नहीं कि उसकी मारी मुसलिमपक्षधरता अथवा हिंदू सांप्रदायिकता के परखचे उड़ाने की उसकी वैचारिक मुहिम का दीवाला क्या पिटता गया है।

यह प्रस्तावना दृमरो पर ताहमत मढ़ने नहीं, खुद के नाकारा और निष्प्रभावी पड़ गये हान की तकलीफ में माझा खाजने की तलाश में है। कभी-न-कभी पहल करनी ही होगी, यह जानने की, कि राष्ट्रव्यापी सामाजिक संकट के बुनियादी कारणों की तलाश में आखिर कौन विचार के स्तर पर भी समर्थ क्यों नहीं हो सके हम ? हमारी नाना प्रकार की एतिहासिक, वैज्ञानिक अथवा सामाजिक दृष्टि-सपन्नताओं का क्या हुआ ? आज सबसे प्रथम सवाल इस वैचारिक धुंध का ही है, जिसके चलते हम हिंदू-मुसलिम सांप्रदायिकताओं के बुनियादी आधारों की पहचान में असमर्थ पड़ गये हैं।

बात को अब फिर वही ल जाने की पेशकश को मात्र क्षेपक न माना जाये कि इतिहास में जाने का सवाल उद्देश्य का सवाल पहले है, खोजबीन का बाद में। जैसा उद्देश्य, तैसे ही खोजबीन के नतीजे निकला करते हैं। एक नतीजे का जिक्र पहले हो चुका कि मुसलमानों के साथ राष्ट्रीय एकात्मता, सामाजिक साझेदारी अथवा धार्मिक-सामुदायिक सहिष्णुता की गुजाइश निकालना मुश्किल है। यह हमारा बौद्धिक नतीजा-मात्र नहीं बल्कि बहुसंख्यक हिंदू समाज की धारणाओं और ग्रंथिया का एक ठोस ससार है। इस हकीकत

को झुठलाना हाथी को मलमल के गमछे की ओट में करना है। यह आज के अधिसंख्य हिंदू समुदाय की उद्बलित तथा संक्रामक मानसिकता का सवाल है। इस बीहड़ सवाल को धर्मनिरपेक्षतावाद की पोली फूँक से उड़ाना खुद को मुग़लतों और दूसरों को धोखे में रखने के सिवा कुछ नहीं। हम यहाँ कांटे से काटा निकालने के तर्क से बहस में जाना और चाहेंगे अधिसंख्य हिन्दुओं के भीतर सुलगते उन सवालों को बहस के स्वरू रखना, जिनके चलते धर्मनिरपेक्षता के लबादे में बहुधर्मी सांप्रदायिकता की राजनीति की शतरंज खेलनेवाली व्यवस्था, लोगों की भावनाओं को सूखे पुआल की ढेरियों में बदलने में कामयाब हुई है।

भूमिका बेमतलब नहीं थी। अधिसंख्य हिन्दुओं की दिन-प्रतिदिन जहरीली और संक्रामक होती जाती मानसिकता का खुला साक्षात्कार मेरठ दंगों के समय ऐसे मुहल्ले में घिरे रह जाने पर हुआ, जहाँ मेरठ शहर के पूरे इतिहास में मई १९८७ में कर्फ्यू लगाने की नौबत आयी। जहाँ देखा कि कैसे पहले पुलिस की छत्रछाया में अल्पसंख्यकों की खुली लूट और उनके मकानों-दुकानों ही नहीं, बल्कि मसजिद की होली जलाये जाये जाने की छूट के बाद, धर्मनिरपेक्ष सरकार के कारिंदे कर्फ्यू लगाने और फौज तैनात करने के काम को अजाम देते हैं। खुद ही आग लगाने और फिर खुद ही कूप के पानी में डोल खड़खड़ाने की इस राजनैतिक अय्यारी का जवाब नहीं।

इस मुहल्ले में मुसलमानों की आबादी का प्रतिशत पाच-छह भी मुश्किल से बैठेगा और देखिए कि इस बार सांप्रदायिकता की आग का दरिया यहाँ तक भी ठाठ मारता चला आया। किन्हीं नवाब साहब की बेटियाँ का पल्लू खींच लिये जाने से लेकर लूट और आगजनी की तमाम घटनाओं के बीच सिर्फ एक बूढ़े मुसलमान को मौजूद पाया गया। बाकी के सब तालाबदी करके भाग निकले। शायद, इस विश्वास में कि पुलिस-संरक्षा की व्यवस्था होते ही वापस लौट आयेंगे और ताले ज्यों-के-त्यों सही-सलामत मिलेंगे। मुहल्ले का इतिहास गवाह रहा है कि हिंदू-मुसलिम दंगों की आग की मामूली-सी तपिश भी इस मुहल्ले से हमेशा दूर ही रही। इस बुलबुले का बैठते भी, शायद, ज्यादा वक्त नहीं लगेगा, लेकिन जहाँ लोगों के भीतर सांप्रदायिक नफरत का भड़काने और इसे पेट्रोल की तरह भभकाने ही नहीं, बल्कि आग से खलने की छूट का भी इतजाम खुद धर्मनिरपेक्षता के पेशेवर धधेबाजों के हाथों में हो, वहाँ सारे सद्विश्वासों की घिंदिया उड़ जाने के, और अजाम क्या होगा ?

कर्फ्यू में घिरे ही देखा कि इस हिंदूबहुल मुहल्ले की मानसिकता का हाल क्या है। चंद नवयुवक बार-बार यही अफसोस प्रकट कर रहे थे कि उस बूढ़े को जिंदा निकलने देना ठीक नहीं हुआ। या तो शुरुआत करनी ही नहीं थी, या हिसाब चुकता कर लेना था। ले-दे कर एक कटुआ हाथ आया और उसे भी सिर्फ बदरों की सी खों-खाँ करके, जिंदा भाग जाने दिया, इस नाकारापन पर लानत फेंक रहे थे हिंदू नौजवान। इतिहास को फलागने में कितना कम वक्त लगा था इन्हें। अनेक लोग लूट-खसोट की जगह आग में झोकने के पक्ष में थे। उन्हें लुटरो की मानसिकता शर्मनाक लग रही थी कत्ल और आगजनी

में उन्हें हमेशा के दबू हिन्दुओं का पुनर्जागरण दिखाई दे रहा था।

तेईस की रात को अचानक हल्ला हुआ कि लालकुर्ती और सोजती गेट की तरफ से हमलावर मुसलमानों के जत्थे 'अल्लाहो अकबर!' करते मुहल्ले पर कत्ली धावा बोलने वाले हैं और फौजियों की टोली यहाँ से जाने कहां गायब है। बाद में पता चला कि फौजी खाना खाने गये और ट्रक खराब हो जाने से आधा घंटा देर से वापस लौट पाये। कुल मिलाकर यह लगभग एक घंटे का वक्त- रात के बारह से लेकर एक तक का- जैसे पूरे मुहल्ले के हवा में दँगे होने का वक्त था। औरतों बच्चों को सुरक्षित जगहों में करने और सारे उपलब्ध असलहों से ले कर 'अल्लाहो अकबर' जुटा कर अपनी रक्षा खुद करने की बदहवासी और डींगों का वह कितना लंबा वक्त लोगों के ऊपर दुधारी नगी तलवार की तरह टगा हुआ था और बाहर का सारा सन्नाटा लोगों के शोर के दबाव में उनके भीतर उछाल मार चुका था।

आदमी का दूसरा पर कहर बरपाने की स्थिति में होना उसे कैसे 'बर्बर-बेखौफ जानवर' बनाता है और खुद का असुरक्षा और दहशत की गिरफ्त में होना अस्तित्व-भय में थरथराता आदमी। हमला बोलने और हमले की गिरफ्त में आने में कितना फर्क है। और ये दोनों स्थितियाँ तब कितनी विदारक हो सकती हैं, जब एक ही देश और नियति के साँझी नितात बर्बर, संवेदनहीन और किसी भी प्रकार की करुणा-विवेकचेतना को 'आखिरी सलाम' बोल चुके, एक-दूसरे के जानोमाल के प्यासों की खौफनाक शक्ल में आमने-सामने हों ?

क्या कभी हम इस सवाल में गये कि इस प्रकार के 'अल्लाहो अकबर' होने वाले खौफनाक और बर्बर परिदृश्यों का हमारी संवेदना और चेतना से कहा तक का वास्ता है? कहा तक का होना चाहिए ? क्या हम सचमुच इतजार में हैं कि देखें बर्बरता और हैवानियत के ये जुलूस छिटपुट शहरों की हदों तक ही कब तक कायम रहते हैं ? यह सांप्रदायिकता की आग में जिंदा ही भुनते लोगों की चीखें हममें सांप्रदायिक सुरक्षा की चेतना को कितना मजबूत करती हैं ? क्या हम सचमुच यही देखना चाहते हैं कि आखिर-आखिर हिंदू-मुसलमानों का धुवीकरण दो आमने-सामने की सांप्रदायिक सेनाओं के तौर पर फैसलाकुन लड़ाई के मुकाम पर कब पहुंचती है ? सांप्रदायिकता का जहरबाद कब उस हद से आगे बढ़ता है, जहां बाट की राजनीति के धंधेबाज इसे खुद के इस्तेमाल के लिए बनाये रखना चाहते हैं ? मेरठ के हाल के हिंदू-मुसलिम दंगों के बाद क्या यह हकीकत अपने नांग-धडंग रूप में सामने नहीं आ गयी कि राजनीतिक सपेरे साप के टोकरों का धंधा कारण रखना चाहते हैं ?

यहीं, बिल्कुल यहीं, हिंदू-मुसलिम दंगों के पूर्व-नियोजनों की अमलियत भी साफ पहचान में आ जाती है। आ जानी चाहिए। इसे पहचानने से इन्कार अपने विनाश को पहचानने से इन्कार के सिवा कुछ न होगा, क्योंकि इस पूर्व-नियोजन की रफ्तार अब बढ़ती ही जा रही है। दंगों को एक खास हद तक भड़काने और फिर एक खास सरहद

पर इनका मुह दबा कर सिर्फ तीन दिनों में स्थिति को काबू में कर लेने में कामयाबी के दावदारों को पहचानने से इन्कार, पूरे मुल्क को आत्मविनाश के हवाले कर देगा, क्योंकि साप तो एक बार अगर बिना जहर का भी सूँघ ले, तो प्राण सूख जाते हैं- इनकी पिटारियों में तो जहर के इजेक्शन दिये गये सापों का जमावड़ा है। इनकी सक्रामकता का दायरा मुहल्लों-सडकों के किनारे खड़े उन लोगों तक फैल चुका है, जिनकी न प्राथमिकताएँ दगे-फसादों की हैं, न ही कामनाएँ। जो व्यवस्था के पूर्व-नियोजन से घनीभूत मजहबी जहरबाद और उन्मादों के अधरे की दहशत में सांप्रदायिकता की मानसिकता के हवाले होते जा रहे हैं। जिन्हें अस्तित्वभय ने गोलबद कर रखा है। जिन्हें अविश्वास और भितरघात के अंधे कुओं की दहशत में जकड़ दिया गया है। जो सत्ता की राजनीति के सँपेरो-द्वारा मंत्रविद्ध करके जहर की काट जहर में खोजने की नियति को सौंप दिये गये हैं। जो शुद्ध हिंदू या शुद्ध मुसलमानों में बदले जा रहे हैं। ^{٢٠} ^{٢١} काग्रेसी सल्तनतवाद के पाये मजबूत बनाने के इरादे में जगाया जा रहा है।

बेगमबाग के कर्फ्यू में घिरे होने के दौर में हिंदुओं की उस पूर्व-नियोजित मानसिकता का एक नगा साक्षात्कार हुआ, जिसे धर्मनिरपेक्षता के डिंडोरघियों ने एक जाल की तरह बुना है। हिंदू सांप्रदायिकता का हौवा खड़ा करने से पहले, इस सुलगते सवाल से गुजरना जरूरी होगा कि खुद मुसलमानों की भूमिका इसमें क्या है, क्योंकि अगर मान लिया जाये कि भारत में मुसलमानों की नुमाइदगी शाही हमाम, शहाबुद्दीन और सुलेमान सैठ -जैस मजहबी-सियासी रहनुमाओं के हाथों में है, तो यह भी बिल्कुल मान लिया जाना चाहिए कि हिंदू सांप्रदायिकता की राष्ट्रव्यापी लहरे भी दरअसल, इन्हीं कौमी, मजहबी और सियासी कठमुल्लों की उपज हैं, जिन्होंने भारत के मुसलमानों को अपनी नियति को हिंदू समाज से जोड़कर चलने की नेक सलाह देने की जगह काग्रेसी सल्तनतवाद के साथ सियासी सौदेबाजी का रास्ता दिखाया है। जिन्होंने मुसलमानों को हिन्दुओं से खतरा और काग्रेसी सल्तनत के हाथों हिफाजत होने की मुहिम चला रखी है, जिन्होंने मुसलमानों को यह मजहबी-सियासी सबक पढ़ाया है कि एक कट्टर मजहबी संप्रदाय की त्रैसियत से की गयी सियासी गोलबदी ही मुसलमानों का हिंदू राष्ट्र के खतरों से सुरक्षा प्रदान कर सकती है।

हम फिर कहेंगे कि हिंदू-मुसलमान का सवाल आज के भारत का सबसे पेचीदा और सुलगता सवाल है, क्योंकि हिंदू-सिख का सवाल भी काग्रेसी सल्तनत के साथ मजहबी सियासी गठजोड़ की ही उपज है। मुसलमान एक पाकिस्तान और निकालना चाहते हैं, यह चेतावनी हिंदू मानस में और हिंदू राष्ट्रवाद का खतरा बढ़ रहे होने की दहशत मुसलमानों के भीतर उत्पन्न करनेवाली शक्ति एक ही है- काग्रेसी हुकूमत। जबकि आज की तारीख तक में न मुसलमानों के सल्तनतवाद के पुनर्जागरण का खतरा आकार ले पाया है, न हिंदू राष्ट्र का नक्शा अमल में आने के मुकाम पर है। पूरे देश पर कब्जा काग्रेसी सल्तनतवाद का है, जिसने धार्मिक कठमुल्लेपन और सांप्रदायिक जहरबाद की आग में सत्ता की रोटी सेकने के नुस्खे को खुद की हुकूमत बरकरार रखने का सबसे आसान और कारगर नुस्खा बना लिया। बेगमबाग के हिंदुओं की मानसिकता में सांप्रदायिकता का जहर घालन का

बगम भी इसी नुस्खे का एक करिश्मा है। मुसलमान एक पाकिस्तान और निकालना चाहते हैं, इस सवाल से बिदकने, मुह फिराने या खौखियाने में कुछ नहीं रखा। सवाल खौखियाने नहीं बल्कि जवाब पाने से हल हुआ करते हैं। हमारे पास इस सवाल का जवाब क्या है?

बेगमबाग के हिंदुओं के पास अपने इस नतीजे पर पहुंचने की वजह मौजूद है। हिंदुओं में परिवार-निराजन का चक्कर चला हुआ है और मुसलमान अपनी आबादी में जुटे हैं। हिंदू एक शादी की कानूनी बंदिश में जकड़ दिये गये हैं, मुसलमान को चार बीवियों का मजहबी ताहफा मौजूद है। हिंदुओं के मदिरों में सरकारी कारिदे बिठा दिये गये हैं, मुसलमानों की मस्जिदों के भीतर झाकते भी भारत सरकार की रुह कापती है। हिंदू कभी धर्म की पताका हाथों में लिये दूसरों की धरती पर साम्राज्य कायम करने नहीं निकला, मुसलमानों का पूरा इतिहास इस्लाम का परचम दूसरों की धरती पर फहराने के खूनी अभियान का रहा है। हमें हमारे मजहब की बिना पर अलग मुल्क चाहिए, इस मांग के साथ हिंदुस्तान को आरी से चीरने की पेशकश और कारस्तानी मुसलमानों ने की थी, हिंदुओं ने नहीं। और जब मजहब के नाम पर मुल्क ले लिया गया, तो साफ है कि मजहब के नाम पर ही मुल्क छोड़ भी दिया गया। यानी जब मुसलमानों का मुल्क पाकिस्तान करार दिया गया, तब हिंदुओं का राष्ट्र भारतवर्ष खुद ही निर्मित हो गया। धर्मनैसर्गिक बंटवारे पर धर्मनिरपेक्षता की चादर ताननेवालों ने बहुसंख्यकों को वोट की राजनीति के मोहरों के रूप में चाहे जितनी खुशफहमी में रखा हो, आज की हकीकत है यह कि जब वोट की ही राजनीति खेली जानी है, तब बहुसंख्यकों की शर्तें खेली जायेंगी।

हम सब इस तथ्य से भलीभांति अवगत हैं कि १९८४ के लोकसभा चुनावों का बहुसंख्यकों की वोट-शक्ति का करिश्मा मान लिया गया। बहुजन समाज को हिंदुओं का बहुमत तोड़ने की चाल करार देने वालों की संख्या कम नहीं। मुसलमान आबादी के अनुपात के लक्ष्य पर पहुंचते ही इधर पाकिस्तान और उधर बांग्लादेश की तरफ हाथ फैलाये खड़े हो जायेंगे- इस अदेशे में दुबले पड़ रहे लोगों की गिनती भी उगालियों के बूते की नहीं।

इसके अलावा यह धारणा भी दूब की सी जड़ें डालती चली है कि मुसलमान कत्लेआम में हिचकनेवालों की कौम नहीं। जितने वक्त और मौके में हिंदू दस मुसलमानों, उतने में मुसलमान हजार हिंदुओं को कत्ल कर चुके होंगे। बेगमबाग के हिंदुओं में कुछ अफसास यह भी थी कि यह हिंदुओं का दब्बूपन है कि 'बेचारा बुढ़ा' कह के छोड़ दिया। मुसलमान बुढ़ा, बच्चे या औरत नहीं बल्कि सिर्फ हिंदू के सवाल पर जायेगा। हिंदू परंपरागत काटरजीवी है और मुसलमान पेशेवर खूँरेज आक्राता। हिंदू आज चौतरफा खतरा में घिरा है। मुसलमानों के राग्न अरब-ईरान-तूरान तक फैले हैं।

बेगमबाग के इन तथाकथित साम्प्रदायिक हिंदुओं की मानसिकता सिर्फ बेगमबाग की चीज नहीं। राष्ट्र और हिंदुओं की अस्मिता के मकट में घिरे होने की यह साम्प्रदायिक

मानसिकता, इधर के चंद बरसों में, बहुत तेज रफ्तार से हो रहे सांप्रदायिक धुवीकरण की उपज है और इसके तार पूरे देश में फैल चुके हैं। जितनी आसानी से आज मेरठ-दिल्ली-भड़ोच-भिवंडी-मुरादाबाद किसी दिन पूरे देश में सांप्रदायिक दंगे भड़काये जा सकते हैं। सवाल सिर्फ इतना है कि सल्तनतवाद का काम फिलहाल कितने पिटारे खोलने से चल जायेगा। ऊपर जो बेगमबाग की हिन्दू मानसिकता का एक मानचित्र हमने सामने रक्खा है, इसमें कहीं तिल-भर झूठ का समावेश नहीं।

इतिहास के पन्नों का सवाल हो या बिल्कुल आंखों की हद में के वर्तमान का, सारी बात तय होती है इससे कि उद्देश्य क्या है। हमने बेगमबाग के निमित्त से हिन्दुओं के उन अंदेशों और पतराजों को सामने रखने की कोशिश की, जिनके चलते हिंदू-मुसलमान की एकात्मता या समरसता का ख्वाब सिवा एक भयावह दुःस्वप्न के और कुछ नहीं। और अब यही मामले के उन नुक्तों को उपस्थित करना चाहेंगे, जिनके आधार पर हिंदू-मुसलमान एक ही धरती की दो औलादों की तरह अपने संपूर्ण प्रेम, विश्वास और विविध रंगों के साथ बाकायदा रहते आये हैं, बाकायदे रह सकते हैं। उदाहरण हम फिर बेगमबाग के उन तथाकथित हिन्दुओं की बातों से ही देना चाहेंगे, जिनको जहां एक तरफ नवाब साहब की बेटियों के बाइज्जत और एक मुसलमान बुढ़े के बेखरोब बच निकलने का मलाल और अफसोस है, वहीं यह तकलीफ भी कि कठमुल्ले मुसलमानों के बढ़ते सांप्रदायिक हमलों ने आखिर इस मुहल्ले को भी अपनी चपेट में ले ही लिया, जहां नवाब साहब ने इस इत्मीनान से अपना डेरा जमाया था कि यह ६५ फीसदी हिन्दुओं की बस्ती है।

यानी सारी सांप्रदायिक उग्रता के बीच और बावजूद कहीं यह तकलीफ भी जरूर है कि अपने पर किये गये विश्वास की रक्षा में झुक गये। इस रक्षा के सवाल को हम बाद में उठायेंगे, यहां बेगमबाग के सांप्रदायिक हिन्दुओं से बहस के इस पहलू को ही रखें कि मुसलमानों के साथ रहने का जहां तक सवाल है, इसके मुमकिन होने का पहला आधार यह है कि मुसलमान अंग्रेज नहीं है। बहस में उतरते ही लोगों ने खुद कहना शुरू किया कि मुसलमान से बात-व्यवहार करते में किसी बेगाने या अपनी पहुंच से दूर के आदमी से बात कर रहे होने की अनुभूति नहीं होती। एक हिंदू को अपना सुख-दुख मुसलमान और मुसलमान को हिंदू से कहने में किसी बेसरोकार या बेगाने के सामने अपने को उघाड़ रहे होने का एहसास नहीं होता। खेती-बाड़ी, कताई-बुनाई, जुताई-घुनाई, कविता-संगीत की दुनिया हो या दुकानदारी-ठेकेदारी के सौदों की, मुसलमान से पानी में बताशे के घुलते होने का सबध आज भी गुजरे वक्तों की बात नहीं। बटाईदारी से ले कर बेटियों की विदाई तक के मौकों में हिंदू और मुसलमान के चेहरों की भाषा एक है।

यानी जहा-जहा, जब-जब और जिन-जिन मुकामों पर सांप्रदायिकता के जहर से लपलपाती जीभों का सामना नहीं है, न मुसलमानों में 'एक और पाकिस्तान' की तैयारी का जेहादी जुनून है, न हिन्दुओं में 'हिंदू राष्ट्र' की हुकार और अब यही हम इस बात पर जोर देना चाहेंगे कि अगर हिंदू-मुसलमान-सिख-ईसाई, आपस में सब भाई-भाई की

तरह रह सकते हैं, रहना चाहिए और रहते भी हैं, जहा-जहा कि सियासी-मजहबी जहरबाद की गिरफ्त मजबूत नहीं, इस बात पर हम सचमुच ईमान रखना चाहते हों, तब सिर्फ सतह पर घोंच उठाये रहने से कुछ नहीं होगा। तब हमें बिल्कुल दोदूक इन सवालों पर आना होगा कि हिंदू-मुसलमान साथ-साथ नहीं रह सकें, इसके कारण क्या होंगे- और वह आधार कौन-कौन से, जिनसे कि सब एक फूलदान में के अनेक पुष्पों की सी समरसता में रह सकेंगे।

बंगमबाग के उन कुछ तथाकथित सांप्रदायिक हिन्दुओं में, जिनसे कि साबका पड़ा फौजी पहरे के दौरान, इतिहास के पन्नों या संस्कृति के मूल उत्सों में जाने की पहल नहीं थी, लेकिन उनके सामान्य उद्गारों ने यह रास्ता जरूर खुला रखा कि हम संस्कृति और इतिहास के उन अभिलेखों की पडताल में इस उद्देश्य से भी जा सकें कि हिंदू-मुसलमान को आपस में जोड़ रखने और जोड़ सकने वाले तागे कौन-से हैं। इन तागों की पहचान ही रक्षा के बंधनों के सवाल को भी सामने ला सकेगी और इसी से पहुँच सकेंगे इस तर्क तक भी कि क्या है, जो दोनों में एक दोआबा रचता है। और वह क्या, जो दोनों को सांप्रदायिक विद्वेष की कर्मनाशा, के दो पाटों की विरूप नियति में धकेलता है।

यहां प्रसंग हिंदू-मुसलमान सवाल के उन तारों के मिलान तक सीमित है जिनका एक छोर अंग्रेजों की ही तरह मुसलमानों के भी विदेशी हमलावर होने का है। हिंदू मानस में यह बात भी जड़ जमाये बैठी है कि अंग्रेज भारतवर्ष को इंग्लिस्तान में नहीं बदल सके, लेकिन मुसलमानों ने भारत के दोनों छोरों को पाकिस्तान में बदल कर रख दिया। भारतवर्ष को भारतवर्ष के सिवा कुछ भी दूसरा बनाना इस राष्ट्र की सरहदों को ही नहीं, बल्कि अस्मिता को हड़पना है। सिर्फ हिंदू है, जो खुद को भारतभूमि से नालबद्ध किये है, और राष्ट्र की सकल्पना से जुड़ा है। धारणा बिल्कुल गलत, लेकिन है।

देश का अस्तित्व सिर्फ उसके भूगोल-खगोल से नहीं, संस्कृति, जातीयता और परंपरा में है। भारत के पाकिस्तान और बांग्लादेश में बदल गये टुकड़े भारत राष्ट्र का अंग-भंग है। भारत की राष्ट्रीयता से कटते ही ये भारतीय संस्कृति और जातीयता से भी कट चुके हैं। ये दोनों राष्ट्र के बला-घराना से उत्पन्न नासूर हैं। ये अपनी हदों को फिर फैलावेंगे। बाकी भारत का मुसलमान यहां की जातीय संस्कृति और परंपरा की जगह, इस्लाम को सबसे ऊपर करार दे कर, पूरे भारतवर्ष के इसलामी साम्राज्य में बदलने के संभावित खतरे को बढ़ा रहा है। यहां तक कि उर्दू-पंजाबी की जगह बंगाली भाषा और संस्कृति के आधार पर बने बांग्लादेश की तुलना में, यहां के मुसलमानों का झुकाव पाकिस्तान की तरफ होना किस बात का इशारा करता है ? ये सवाल हैं और इनका जवाब बहुत जरूरी होगा।

हिंदू सांप्रदायिकता का होवा खड़ा करते में, भारत के विभाजन की त्रासदी को आख-ओझल करना गलत होगा। भारत के मुसलमानों के नैतिक आधार का सबसे बड़ा खोखल पाकिस्तान है। सब मानते हैं कि पाकिस्तान मुसलमानों के मजहबी जुनून और

इस्लामी हुकूमत की हवस की सृष्टि है। इसे जिन्ना और जवाहरलाल नेहरू के बीच की बदरबोट या ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के द्वारा एक राष्ट्र के दो टुकड़े करने की खतरनाक साजिश के तौर पर देखनेवालों की मख्या कम है। ऐसे में हमें हिंदू सांप्रदायिकता के ज्वाल को मुसलमानों के पल्ले पर पाकिस्तान को रख कर भी देखना ही होगा, क्योंकि पाकिस्तान को हाशिये पर रखकर मुसलमानों की स्थिति, नीयत या नियति पर किया जाने वाला हर सोच-विचार हिंदू मानसिकता को सांप्रदायिक गोलबदी की दिशा में धकेलेगा।

पाकिस्तान को नेपथ्य में करके मुसलमानों की नीयत और नियति पर की जाने वाली प्रत्येक बहस हिंदू मानसिकता के लिये बेमानी और राष्ट्र व हिंदू समाज के हितों के विपरीत है। अगर यहाँ हम कहें कि बहस में हिंदू मानसिकता को एक पक्ष मानकर चलने को जरूरी क्या माना जाये, तो ध्यान रहे कि ऐसा प्रत्येक नकार हिंदू मानसिकता को सांप्रदायिक या कहें कि सामुदायिक गोलबदी की तरफ आगे बढ़ाता है। साथ ही ध्यान रखना जरूरी है इस बात का भी कि हिंदू-मुसलमान का सवाल चंद विचारधारावादियों से कहीं ज्यादा, उन हिंदू-मुसलिम धड़ों की गिरफ्त में है, जिनके राष्ट्र या मजहब के नाम पर गोलबद होने को हम तो सांप्रदायिक मानसिकता करार देते हैं, लेकिन ये दोनों धड़े इसे खुद की सामुदायिक सुरक्षा और अस्मिता का सवाल। सांप्रदायिक या सामुदायिक मानसिकता की लगामें इन्हीं दो धड़ों के हाथों में हैं। हम 'नदी किनारे रह खड़ा, धोबी कपड़ा धोये' के मुहावरे की हदों में बंद उन बौद्धिक के हाथों में नहीं, जो राष्ट्रीयता के सवाल को धर्म, मजहब या जातियों के बाँडे की हदों से बाहर मनुष्य-मात्र की आर्थिक, सामाजिक स्वतंत्रता तक ले जा कर देखना-दिखाना चाहते हैं।

हालाँकि अपने समय, समाज और देश के सवालों को इतिहास, विज्ञान और संस्कृति और विचार के आलोक में इनके सही और नैसर्गिक रूप में उजागर बनाता है वही तबका, जो जाति, धर्म और रक्त ही नहीं, बल्कि देश तक के तात्कालिक तथा इकतरफा दबावाँ से इन्कार का संघर्ष और हर वस्तु को आदमी की स्वाधीनता और संवेदना की कम्पौटी पर कस कर देखे जाने की वकालत करता हो, लेकिन यह एक त्रासद वास्तविकता है कि मानवविरोधी शक्तियाँ इन्हें हमेशा एक किनारे फेंक देती हैं, क्योंकि समाज की मुख्यधारा में राजसत्ता का भेड़ियाघसान कायम रखने के लिये जरूरी है कि उन तमाम लोगों को अकेला और अप्रासंगिक कर दिया जाय, तो राजसत्ता के झूठ और समाज के सच को पकड़ने और भाषा देने में समर्थ हों। भारत सरकार इस तथ्य का अपवाद नहीं। हिंदू-मुसलिम या अन्य तमाम सांप्रदायिक या जाति-वर्णवादी गोलबदियों के सारे सूत्र अगर किसी एक की मुट्ठी में हैं, तो वह सर्वोच्च सांप्रदायिक और जातिवर्णवादी सत्ता सगठन एक ही है- भारत सरकार।

हम नहीं कहेंगे कि भारत सरकार हिंदू-मुसलिम-मिख-हरिजन-सर्वण या अन्य प्रकार के सांप्रदायिक दंगों को पूरे देश में भड़काकर, राष्ट्र को टुकड़ों में बाटना चाहती है। जितनी चिंता हमें राष्ट्र की है, इससे कम फिक्र इन्हें इस देश की व्यवस्था का अपन आर्थिक-राजनीतिक साम्राज्यवाद का अखंड देखने की नहीं। दरअसल अपनी इसी फिक्र

मे ता भारत सरकार- बल्कि कहें कि आर्थिक प्रभुसत्ता वर्ग के राजनीतिक संगठन कांग्रेस ने खुद के तथाकथित धर्मनिरपेक्ष संविधान तक में धार्मिक संप्रदायवाद को कानूनी हैसियत प्रदान की है। अपनी चुनावी रणनीति का ऐसा पूर्व-नियोजन किया, जिसमें लोगों के समाज की शक्ति में एकजुट होने की सारी संभावनाएं हमेशा-हमेशा के लिए खत्म हो जाय। हिंदू-मुसलमान के सांप्रदायिक शक्तियों के तौर पर गोलबंद होत जाने के सारे गमन कांग्रेसी सल्तनतवाद की देन है। हिंदू-मुसलमान या हिंदू-सिख-ईसाई-मुसलमान-हरिजन के बीच के सांप्रदायिक जहरबाद के नेस्तनाबूद होने का सीधा मतलब होगा, कांग्रेसी सल्तनत का नेस्तनाबूद होना।

व्यवस्था इस खतरे को भलीभांति जानती है कि हिंदू-मुसलमान-सिख-ईसाई वगैरह चार भाइयों के आपस में एक होने का मतलब होगा- एक राष्ट्रीय समाज का उदय, जो व्यवस्था की हर गतिविधि को राष्ट्रीय और सामाजिक हित की कसौटी पर कसकर देखेगा। यह राष्ट्रवाद को अखंड रखने का इस व्यवस्था को एक ही रास्ता सुझाई देता रहा है- भारतीय समाज को अलग-अलग सांप्रदायिक समुदायों के रूप में बिखर रखना। इन्हें हमेशा इस मुकाम पर गोलबंद रखना कि सत्ता सल्तनत के ठेकेदार इनका मनचाहा हस्तमाल कर सके। यह वजह है कि हिंदू-मुसलमान या सिख-हरिजन अपनी सांप्रदायिक टकराइतों तक के लिए स्वतंत्र नहीं।

इसे क्षपक न माना जाये। हिंदू-मुसलमान के सवाल की पहचान के प्रसंग में व्यवस्था की भूमिका का केंद्र में रखना जरूरी होगा। भारत के स्वाधीनता संग्राम को ठीक उस समय अधर में छोड़ देने की साजिश की पहचान जरूरी है, जबकि इसने एक अदम्य राष्ट्रीय ज्वार का आकार लेना शुरू कर दिया था। जबकि वह दिन ज्यादा दूर नहीं रह गया था कि लार्ड माउंट बेटन को हमसे प्रार्थना करनी पड़ती कि अंग्रेजों को सकुशल वापस लौट जान दिया जाय। लेकिन तभी देशी प्रभुसत्तावाद के दलालों ने अपना मिर ऊपर उठाया और लार्ड माउंट बेटन को, स्वाधीनता की अग्निदीक्षा में उतर पड़े राष्ट्र के भाग्यविधाना की भूमिका में मध्य पर खड़ा कर दिया गया। जिसे अपनी सकुशल वापसी की भीख मागनी थी, वह भारतवर्ष को वसीयतनामे की कूटनीति की आरी से चीर कर ऐसे दो टुकड़ों में विभाजित कर गया कि खून का बहना कभी बंद नहीं हो सके। जैसे कोई शहशाह अपनी आधी जागीर हिंदू रानी और आधी जागीर मुसलमान बेगम में पैदा हुए बेटों के नाम लिख जाय- ब्रिटिश साम्राज्यवाद का आखिरी दलाल लार्ड माउंट बेटन मजहब के नाम पर गढ़े गये द्विराष्ट्रवाद के सिद्धांत की पैदाइश पाकिस्तान को जिन्नाह और लहलुहान 'शप भारत' को पंडित जवाहरलाल नेहरू एण्ड कंपनी के हवाले कर गया। कांग्रेसी सल्तनतवाद के इस राष्ट्रघाती अधोपतन को केंद्र में रखे बिना हिंदू-मुसलमान के सवाल का निबटारा असंभव है, जिसने भारत की अर्थव्यवस्था को जकड़े बहुदेशीय विदेशी व्यापारिक प्रतिष्ठानों की नकल में भारत सरकार की शक्ति भी एक ऐसे बहुदेशीय राजनीतिक प्रतिष्ठान की निकाल दी है, जहां राष्ट्रीयता की चेतना और सकल्पना का उपयोग सिर्फ मुखौटे का जरूरी रंग-रोगन मात्र का रह गया है।

राष्ट्रीयता चेतना का ज्वार सिर्फ ब्रिटिश साम्राज्यवाद को ही नहीं, बल्कि देशी

प्रभुसत्ता को भी उखाड़ फेंकेगा, इस दहशत में ही भारत के अभूतपूर्व स्वतंत्रता संग्राम को अधबीच में ही तोड़ दिया गया और १९४७ के बाद से आज तक की कांग्रेस हुकूमत का सारा इतिहास, राष्ट्रीयता की चेतना को कुचल कर, कांग्रेसी सन्तानवाद के उस भेड़िये को मोटा करने का इतिहास है, जिम्मे एक विशाल देश की ससद तक को सत्तापीठ की दुम की शक्ति में बदल कर रख दिया है। हिंदू-मुसलमान के सवाल पर ससद की निरपेक्षता और दिशाहीनता इसी प्रभुसत्तावाद की देन है, जिसमें राष्ट्र की अखंडता का सारा नाटक भारत को 'बहुराष्ट्रीय समूह' में बदल डालने के देशी-विदेशी षडयंत्रों पर परदा डाले रहने की कूटनीति में खेला जा रहा है। ससद और विधानसभाओं का सांप्रदायिक ढांचा सांप्रदायिक समीकरण पर आधारित 'डोमिनियन स्टेट' की कहानी खुद सुना रहा है कि नहीं ?

हिंदू-मुसलमान के सवाल पर बहस में इस तथ्य को सतत सामने रखते चलना होगा कि द्विराष्ट्रवाद की पेशकश में पाकिस्तान खुद दो टुकड़ों में बदल गया, तो यह भारत के लिए जश्न मनाने की बात नहीं थी, क्योंकि द्विराष्ट्रवाद का नुस्खा भारत की हिंदू-मुसलिम समस्या का स्थायी हल निकालने की फिक्र में नहीं, बल्कि इस महादेश का ब्रिटिश और अमेरिकी साम्राज्यवाद के स्वार्थों के हिसाब से टुकड़ों में करन की कूटनीति में ईजाद किया गया। इस साम्राज्यवादी नुस्खे को अगर भारत के देशी प्रभुसत्तावाद के दलालों ने बाखुशी चुपचाप लार्ड और लेडी माउंट बैटन के दरबार में कोर्निश बजाते हुए स्वीकार कर लिया, तो हम चतुरता में कि जिस नुस्खे से अंग्रेज और अमेरिकी साम्राज्यवाद चला सकते हैं, हम क्यों नहीं।

देशी प्रभुसत्ता वर्ग और कांग्रेसी सन्तानवाद के गठजोड़ के इस साम्राज्यवादी चरित्र को आख-ओझल करके, न हिंदू-मुसलमान सवाल का हल संभव है, न हिंदू-मिख वगैरह सवालों का, क्योंकि सांप्रदायिक संगठनों को मारी खुराक यही से मिलती आयी है। सभी राजनीतिक पार्टियों को समानभाव से घटा दे कर, राजनीति में राष्ट्र-समाज और मूल्यों की चेतना से शून्य परजीवियों की गुंडाशक्ति को खड़ा करने वाले थैलीशाहों ने ही इन सांप्रदायिक संगठनों के अर्थतंत्र का भी मजबूत किया है। सांप्रदायिकता और मजहबी जहरवाद की मानसिकता को पासने में थैलीशाहों के प्रचार-प्रसार माध्यमों की भूमिका सामान्य नहीं। विभिन्न धार्मिक-जातीय समुदायों के एक राष्ट्रीय-सामाजिक शक्ति के तौर पर उभरने का मतलब होगा धर्मनिरपेक्ष समाजवाद के पाखंड का वास्तव में चरितार्थ हो जाना— इस बात से बेखबर देशी प्रभुसत्ता वर्ग कतई नहीं था। इसी से उसने लोकतंत्र के लबादे के भीतर साम्राज्यवाद के ऑक्टोपस को प्रश्रय दिया। भाषा, शिक्षा, न्याय और कानून से ले कर राशन-पानी तक की दोहरी व्यवस्था कायम की। प्रभुसत्ता वर्ग के लिए सब-कुछ अलग, जाहिल गुलामों के लिए सब-कुछ एक समान।

प्रभुसत्तावर्ग के लिए गोरामाहबी अंग्रेजी, दलितों के लिए आपसी कलह और सिरफुटव्वल में चीथड़ा होती देशी भाषाएँ। प्रभुसत्ता वर्ग के लिए दून-मसूरी-शेखुड-मार्का शाही शिक्षा-प्रतिष्ठान— करमफूटों के लिए कुशिक्षितों की फौज तैयार करने वाले देशी शिक्षा संस्थान।

कभी आप कठमुल्ला-बर्बर सांप्रदायिक सगठना में धर्मांध दगाइयों की शक्ल गौर से देखें, तो ये आखें निकाल लिये गये प्रेतों की सी दहशत में डाल देगे। जब आदमी भीतर से अधा कर दिया जाये, तब उसकी बाहर की आखें गिद्धों से बदतर हो जाती हैं। कांग्रेसी सल्तनतवाद और देशी प्रभुसत्तावाद के राष्ट्रद्रोही जुटे ने इस देश के लोगो से उनकी आखें खरीदने का धधा चला रखा है। हिंदू-मुसलमान का सवाल इसी आख के होने, या न होने का सवाल है।

जिनमें आख है, वह आज भी साफ देख सकते हैं कि हिंदू-मुसलमान का सवाल दरअसल, कहा से शुरू होता और कहा तक जाता है। विदेशी हमलावर भारत के इतिहास के हजारों साल पुराने पृष्ठों तक में मौजूद है। विदेशी हमलावरों का एक लंबा सिलसिला है, जो शक-कुषाण-हूणों से लेकर, ब्रिटिश साम्राज्यवाद की रौंद तक गया है। कुछ भारत की मिट्टी में ही जज्ब हो गये, कुछ लूटपाट कर वापस चल दिये। सवाल विवेचना और बहस के लिये सिर्फ उनका है, जिन्होंने यहाँ अपनी हुकूमत कायम की और पहचान अलग बनाये रखी।

विदेशी आक्राताओं की एक मोटी पहचान है यह कि वह सबसे पहले कब्जे में लिये गये देश की सस्कृति को नष्ट करते हैं। विदेशी हमलावर कभी भी विजित देश की सस्कृति में सकारात्मक कुछ नहीं जोड़ते, बल्कि अपनी जूठन और उतरन से मूल सस्कृति को विकृत बनाते हैं। अंगरेजों की पूरी भूमिका यही रही है। जबसे वे यहाँ गद्दी पर बैठे और जब तक गद्दी में बरकरार रह- अंग्रेज शासकों का सारा इतिहास भारत की सस्कृति को विरूपित और विकृत करने का रहा है। इतना ही नहीं, जाते-जाते भी ये सत्ता का अपने ऐसे अंतर्राष्ट्रीय दलालों के हाथों में सौंप गये, जो आज भी भारतीय सस्कृति को विकृत और पाश्चात्य अपसस्कृति को देश के मानस और चेतनाससार में आरोपित करने में प्राण-प्रण से जुटे हैं। अंगरेज गये, लेकिन रक्तबीज छोड़ते हुए। जो लोग अंग्रेजों के ज्ञान-विज्ञान की दुहाई देते नहीं थकते, उन्हें हम बताना चाहेंगे कि जल्दी-से-जल्दी अधिक से अधिक लूट का माल सात समुद्र पार ले जाने और फौजी गिरफ्त को मजबूत बनाने के उद्देश्य से चलायी गयी रेलों और उड़ाये गये हवाई जहाजों से किसी राष्ट्र की वैज्ञानिक प्रगति नहीं हुआ करती। इस तरह के सारे औपनिवेशिक ज्ञान-विज्ञान, हमेशा राष्ट्र के अंतःसातों को बाधित करते हैं। अंग्रेज हुकूमरानों ने भारत को सिर्फ लूट के एक औपनिवेशिक अड्डे की शक्ल में देखा। क्या यही बात मुसलमान शासकों के बारे में कही जा सकती है ?

इतिहास साफ-साफ बताता है कि ज्यों ही ऐसे मुसलमान शासकों का शासन यहाँ शुरू हुआ, जिन्होंने भारत को लूट का औपनिवेशिक अड्डा बनाने की जगह, हमेशा-हमेशा के लिये खुद के रहन की जगह के रूप में देखा- इस्लामी साम्राज्य ही नहीं इस्लामी हुकूमत का इगदा भी तर्क होता गया। ठीक यही से शुरू हुआ भारत के मूल निवासियों से, सिर्फ शाही-शहशाही गद्दी को छाड़कर, बाकी सारे मामलों में आपस की साझीदारी का दौर, जिसकी परिणति गंगा-जमुनी सभ्यता और सस्कृति के रूप में हुई। 'एंग्लो-इंडियन

कल्चर' की तर्ज पर इंडो-फारसी दोगली अपसंस्कृति की जगह इस गंगा-जमुनी मेल-मिलाप के नतीजों को बहुत ध्यान से देखने की जरूरत होगी अगर कि इस गंगा-जमुनी ईमानदारी से हिंदू-मुसलमान के सवाल पर बहस चलाना चाहें तो । क्योंकि मुसलमानों की विदेशी हमलावरों के तौर पर गिनाए जाने के बरअक्स, यह एक गजब का सबूत हमारे सामने मौजूद है, जिसकी मिसाल पूरे इस्लाम के इतिहास में कहीं नहीं ।

आख चाहती है संस्कृति के निर्मित होने में भी यह देखे जाने के लिये कि मुसलमानों की हिन्दुओं से हाथबटाई का एक सदियों लंबा पितृसिद्धा, जिसके एक नहीं, अनेक सबूत भारतीय संस्कृति के पटल पर साफ-साफ देखे जा सकते हैं। भाषा, बोलचाल, उठक-बैठक, खेती-बाड़ी, कताई-बुनाई, गोडाई-निराई, खुदाई-चिनाई, सुताई, नक्काशी, गाली-गलौज, प्यार-मुहब्बत, साज-सगीत, चिंतन-दर्शन, मजहब और धर्म शादही और साहित्य, सभ्यता, सामाजिक रहन-सहन और संस्कृति के समस्त सोपानों में कहीं कुछ ऐसा नहीं, जिसमें हिंदू-मुसलमान के मेलमिलाप की छाप नहीं । इस छाप को अलग करना मुश्किल ही नहीं, असंभव है और यह असंभव ही साबित करता है कि कभी हिंदू-मुसलमान का बराबर के साझीदारों की तरह का साथ बनना हुआ था और कि वह आज भी बिल्कुल संभव है, बशर्ते नीयत और नियति ताने-बाने के धागों की रहे ।

हिंदू ताने और मुसलिम बाने की बिनाई का इतिहास छोटा नहीं । अमीर खुसरो से लेकर नजीर बनारसी तक की लंबी चदरिया है यह । इस बिनाई के टूटने का मतलब भारतीय संस्कृति की एक ऐसी अपूर्व धारा का टूट जाना होगा, जिसे गंगा से जमुना के छूट जाने से कम बड़ा हादसा नहीं माना जाना चाहिये । भारत के नक्शे में स खून का रिसना जो आज भी जारी है, वह किस बात का सबूत है ? बटवारे सगे भाइयों में भी होते हैं, लेकिन जिस बटवारे में सिर्फ जमीन-जायदाद अलग होते हैं, वह अलग होते हैं- और जिनमें खून का भी बटवारा हो जाता है, वह अलग । क्योंकि खून का सबध हर हाल में बहुत दूर तक जाता है- चाहे अनुराग में, चाहे खटाराग में । संस्कृति अनुराग का सबूत देती है और सियासत खटाराग का । नहीं तो, जहां तक हिंदू-मुसलमान का सवाल है, अमीर खुसरो हिंदवी में लिखकर भी मुसलमान ही रहे और फिराक उर्दू में लिख कर भी हिंदू । खुसरो, जायसी, रहीम, रसखान के सामने मुसलमानी छोड़कर, हिंदू बनने की शर्त कभी नहीं आयी । इनकी हैसियत हमेशा चोटी के भारतीयों की रही ।

कुछ कारण हैं कि 'मानुष हों तो वही रसखान' के गायक मुसलमान को अपने मजहब को देश या संस्कृति से ऊपर समझने की न कोई जरूरत पड़ी और न 'राम नाम की चदरिया' को जतन से ओढ़ने वाले कबीर को । गंगा-जमुनी संस्कृति, हमेशा, देश और उसकी जातीय संस्कृति के धर्म और मजहब से कहीं ऊपर होने का सबूत देती रही है ।

इस गंगा-जमुनी संस्कृति को आघात पहुँचाया, धार्मिक-मजहबी और सियासी कठमुल्लापन ने । औरगजेब की मजहबी कट्टरता से लेकर, ब्रिटिश साम्राज्यवादियों तथा कांग्रेसी सल्तनतवादियों के सियासी काइयापन ने ताड़ा है, इसकी उस विराट परंपरा को,

जा सारी दुनिया में अपना मिसाल खुद रही है। कहीं, किसी दूसरे मुल्क में बाहरी जातियों के आगमन और उनकी हुकूमत ने वहाँ की मूल संस्कृति में कभी कोई इजाफा नहीं किया- अपमिश्रण चाहे जितना किया हो। कुछ कारण है कि मुसलमानों का भारतीय संस्कृति से जुड़ना वर्णसंकरता की विरूपता में न बदलकर, मूल को और अधिक सम्पन्न करता रहा। मुसलमानों का मुसलमान बने रहने के बावजूद भारतीय संस्कृति के विराट में घुल जाने का मिलसिला ही गंगा-जमुनी संस्कृति की शुरुआत और समृद्धि का सिलसिला है।

इसमें क्या शक कि अगर पाकिस्तान नहीं भी बनता, तो आखिर रहते मुसलमान भारत की सरजमी पर ही। अपने हिस्से की जमीन पर तो आखिर-आखिर उनका कब्जा होता, लेकिन तब भारत के एक हिस्से का नाम पाकिस्तान नहीं होता। इसे समझाने की जरूरत नहीं होनी चाहिये कि जब एक देश के दो व्यक्तियों में से एक का नाम अमीर खाँ और दूसरे का नाम भीमसेन जोशी होता है, तब ठीक वही स्थिति कतई नहीं होती, जब एक देश के दो टुकड़ों में एक का नाम भारतवर्ष और दूसरे का नाम पाकिस्तान रख दिया जाता है।

क्यों नहीं पाकिस्तान को यह एहसास हुआ कि अरे, पाकिस्तान के एक हिस्से का नाम अगर बांग्लादेश होने जा रहा है, तो इससे पाकिस्तान को क्या फर्क पड़ना है- रहेंगे तो वहाँ अपने मजहबी बिगदर मुसलमान ही? जब मजहब देश से बड़ी चीज हो, तब अखंड मुल्कों के बीच युद्धों की जरूरत क्यों रह जाय?

गंगा-जमुनी संस्कृति का जिक्र इसी गवाही में किया गया कि यह मुसलमान और मुसलमान ही नहीं, बल्कि सिख और सिख के बीच के फर्क की भी पहचान तय करती है। स्वर्णमंदिर की नींव में मुसलमान से पत्थर रखवाने और 'देहु शिवा वर मोहे' का शब्द 'गाने की जरूरत अनुभव करने वाले सिख कौन सिख रहे हैं- पंथ को देश से बढ़ा करार देने वाले सिख कौन? ध्यान रहे कि कांग्रेसी सल्तनत हिन्दुओं का मानसिक दोहन इसी कौड़ियाँ तर्क से कर चुकी है कि देखो, पंथ को देश से ऊपर ले जाकर खालिस्तान खड़ा करने के मुरीदों का सिर कैसे कुचल दिया गया। अखंड भारत के अभिरक्षकों के द्वारा सन् १९८४ का लोकसभा चुनाव इसी कांग्रेसी कूटनीति का सबूत है। हमें इस हादसे की संभावना से इन्कार से पहले, जरा इस मुद्दे पर जरूर सोच लेना चाहिये कि कहीं १९६३ १९६४ या इक्कीसवीं सदी के शुरुआत के आम चुनाव एक और पाकिस्तान के मुरीदों को अखंड भारत का सबक सिखा दिये गये होने के जयघोष के आधार पर न लड़े जायें।

अफसोस कि हमारे बड़े-बड़े विचारकों, बुद्धिजीवियों या तथाकथित राष्ट्रनेताओं को कभी यह जरूरत ही महसूस नहीं हुई कि देश के करोड़ों-करोड़ लोगों को इतना साफ-साफ समझा दिया जाये कि देश का मतलब क्या होता है और धर्म का मतलब क्या। देश हमें क्या-क्या देता है और धर्म हमें क्या। तभी हम लोगों की समझ में यह सच्चाई भी आती कि धर्म के बिना जिंदा रहना और बिल्कुल एक सही-सच्चे, संवेदनशील और समझदार इन्सान के तौर पर जिंदा रहना- बिल्कुल-बिल्कुल संभव है। लेकिन देश के बिना इन्सान तो क्या, पशु पक्षी का जीवन भी नामुमकिन है। आदमी के अस्तित्व की

पहली शर्त देश है, मजहब या धर्म नहीं। आदमी का पहला आधार हवा-पानी, धूप-छाव और मिट्टी का ससार है, मजहब नहीं। मजहब, धर्म या जाति रोटी-सालन और हवा-पानी के बाद की वस्तु हैं।

मिट्टी के विरोध में खड़ा मजहब या धर्म, आदमी का सबसे बड़ा अधेरा है- मिट्टी में जब मजहब आदमी की जिंदगी का सबसे उज्जर आलोक। आदमी मिट्टी की सृष्टि है, मजहब की नहीं। मजहब और धर्म तो आदमी के हाथों वजूद में आनेवाली नियामतों में से एक हैं। इनका देश या इनसान से बड़ा कोई रुतबा नहीं। मजहब और धर्म तो सिर्फ तभी तक काम की चीजें हैं, जब तक ये इनसान के काम आ सकें, उसके शुभ में हाथ बटा सकें। इनसान के हित से ऊपर या बाहर जात ही मजहब और धर्म जहर की थैलिया हैं और इन थैलियों को गले में लटकाये घूमना ठीक नहीं।

हिंदू और मुसलमान का सवाल जहां तक एक देश के दो बांशियों का सवाल है, वहां तक यह गंगा-जमुनी सस्कृति का बेमिसाल सबूत है। हिंदू और मुसलमान का सवाल जैसे ही इस्लाम को देश से ऊपर ले जाने के मुकाम तक पहुंचे, तब यह भारत बनाम पाकिस्तान या इस्लामिस्तान का सवाल है और हिंदू-मुसलमान के बीच का यह द्वंद्व न हिंदू के हक में है, न मुसलमान के। इसका अजाम हमेशा सियासत, या सियासत के साथ तक जाता है।

जो मुसलमान मजहब को भारत से बड़ा, पहल और ऊपर करार देते हो, जो पाकिस्तान के हाथों को, खुद के दस्ताने चढाकर, अपने बीच छिपाये रखने में उम्ताद हों, जो खुद के इमामों-मुल्नाओं या सियासी रहनुमाओं के 'ऐ। हमारी कौम के लोगो, इस्लाम खतरे में है' की जहरीली पुकार सुनते ही खूनी खजर चमकात सड़कों पर उतर आते हों- ऐसे देशद्रोही मुसलमानों से संघर्ष एक अलग बात है और यह बिल्कुल अलग बात कि जो बहुसंख्यक हिंदुओं के बीच में खुद को सुरक्षित अनुभव करने के इतमीनान में अपना डेरा हिंदू-बहुल बस्तियों में बसाये हुए हैं, उनके विश्वास की हत्या कर दी जाय। विश्वास की हत्या से ज्यादा घृणित हत्या कुछ नहीं। विश्वास की हत्या हर हाल में भारतीय सस्कृति और परंपरा की हत्या है। अल्पसंख्यकों के विश्वास की हत्या इस देश को निश्चित ही पाकिस्तान बना छोड़ेगी। तब यह भी पाकिस्तान की ही नस्ल के एक विरूप, सस्कृतिविहीन मुल्क की शक्ल में खड़ा होगा। इसकी नियति भी फौजी तानाशाहों के बूटों की धमक का छाती में झेलने के सिवा कुछ नहीं रह जायेगी। तब पाकिस्तान और हिंदुस्तान के चरित्र में कोई फर्क नहीं रह जायेगा।

कांग्रेसी सल्तनतवाद बहुत तेजी से भारतीय सस्कृति और स्मृति की जड़ें रेत रहा है। धृतराष्ट्र हो चुकी है कांग्रेस, इसकी आखें ब्रिटिश साम्राज्यवाद के म्यूजियम में कैद हैं। इसका कुछ भी भारतीय नहीं रह गया है, सिवा लबादे के इसकी भाषा और चरित्र दोनों साम्राज्यवाद की जूठन के सिवा और कुछ नहीं रह गये हैं। यह सस्था पूरी तरह सड़ चुकी है। यह हिंदू-मुसलमान के सवाल को खुद की सत्ता के हक में भुनाने की आदी हो चुकी है

और इसके 'मरतिहु बार कटक सहारा' के खतर से सावधान नहीं हुआ गया, तो न हिंदू-मुसलमान का सही-सलामत बच रहना संभव होगा, न इस देश का।

हिंदू सांप्रदायिकता का एकतरफा हौवा खड़ा करने वालों को भूलना नहीं चाहिये कि आर एस एस, शिवसेना या त्रिशूलमना अल्पसंख्यकों की सांप्रदायिकता की खुराक पर खड़ी हुई हैं। कांग्रेसी सल्तनत से राजनीतिक सौदेबाजी की पहल अल्पसंख्यकों के मजहबी-सियासी रहनुमाओं ने की, बहुसंख्यक हिंदुओं ने नहीं। जो आज बहुसंख्यकों की सत्ता से साठगाठ का रोना रो रहे हैं, उन्हें जरा इतिहास के उन पन्नों को भी पलट कर देखना चाहिये, जो अल्पसंख्यकों के राजनीतिक सौदों से पट पड़े हैं। क्यों यह सदिशवास कर लिया गया कि जो कांग्रेसी सल्तनतवाद आज अल्पसंख्यकों के तुष्टीकरण की राजनीति खेल रहा है, कल जरूरत पड़ने पर वह बहुसंख्यकों के तुष्टीकरण का दाव नहीं आजमायेगा? तब तो यह तय मान लिया गया कि हिंदुओं में आपस में ही इतने वर्ण-जाति समूह हैं कि सत्ता के समीकरण में निर्णायक हैसियत कभी पा ही नहीं सकते, लेकिन १९८४ के आम चुनावों ने सबक सिखा दिया कि अगर वोट की ही राजनीति को केन्द्र में कायम रहना है, तो अब अपनी शर्तों पर पलड़ा नीच झुकानेवाली ताकत हिंदू बहुसंख्यक रहेगा, अल्पसंख्यक नहीं। यह बात हिंदू बहुसंख्यकों के हित में है, इस मुगालते में रहने का दण्ड आखिर-आखिर हिंदुओं को ही सबसे ज्यादा भुगतना होगा, लेकिन आज की हकीकत यही है कि जब तक वोट की राजनीति में बहुसंख्यकों की निर्णायक शक्ति का तावा पूरी तरह घिस नहीं जायेगा, तब तक अल्पसंख्यकों की हैसियत दोयम रहेगी।

जहां तक कांग्रेस समस्या का सवाल है, अब हम कैसे यकीन दिला पायेंगे कि कांग्रेसी सल्तनतवाद की सारी कड़ी आलोचना कांग्रेस के हक में है, उसके खिलाफ नहीं। हिंदू-मुसलमान और सिख-इसाईयों के एक होने में एकाधिकारी सत्तावाद के पाये टूटने के खतरे जरूर हैं, लेकिन इसके सिवा लोकतंत्र के बने रहने का कोई रास्ता भी तो नहीं।

हिंदू-मुसलमान के सवाल में यही पंच सबसे अहम है कि मुसलमान जब तक हिंदुओं से खतरा और कांग्रेसी सल्तनत से सुरक्षा महसूस करने के मुकाम पर रहेंगे, तब तक उन्हें मजहब को देश से बड़ा दिखाया जाना रहेगा, क्योंकि सत्ता से सौदेबाजी में मजहब का बड़ा होना हाथ बटायेगा, देश का बड़ा हानानहीं इसलिए हिंदू-मुसलमान का सवाल हो कि हिंदू-सिख का सवाल- सबसे पहला और जरूरी सवाल है, मजहब या धर्म को देश से ऊपर ले जाने, या धर्म, मजहब, वर्ण अथवा जाति आदि का देश के साथ जजब कर देने का सवाल।

हिंदू-मुसलमान का सवाल, इसीलिए, सबसे पहला जवाब यही माग रहा है कि कौन प्रथम है, मजहब या देश? समाज, या सत्ता प्रतिष्ठान? जवाब, जाहिर है, मुसलमान को पहले देना है, हिंदू को बाद में। और इसे हिंदू सांप्रदायिकता का सबूत न माना जाये। इस वास्तविकता का नकार ठीक नहीं कि हिंदू भारतीय समाज की मुख्यधारा रहा है। देश और संस्कृति की भी। यह एक सच्चाई है कि हिंदू की सांप्रदायिकता का जुनून अभी भी

देश और संस्कृति के ऊपर नहा पहुँचा है। हिंदू को भारत की मुख्यधारा कहने से यह भावार्थ निकालना सिवा कुतर्क के कुछ न होगा कि यह अल्पसंख्यक समुदायों के अस्तित्व को सकट पैदा करेगा। बड़ी मछली के छाटी का निगलन और अंतर्धाराओं के मुख्यधारा में अंतर्लयन में कोई समानता नहीं। मुख्यधारा सहायक धाराओं के निजी प्रवाहक्षेत्रों में हस्तक्षेप नहीं करती। 'गंगा-जमुनी संस्कृति' में जमुना पुसलमान है। अपनी इस स्थिति, बल्कि कहे कि हैसियत से जिस मुसलमान का इनकार हो, उसे गंगा-जमुनी संस्कृति का दावा छोड़ देना, और इस कड़वी हकीकत को मान लेना चाहिए कि यही पाकिस्तान तैयार करना है।

इतिहास गवाह है कि हिंदू और मुसलमानों के बीच की टकराहटों का गिलसिला जब ताड़ा इस संकल्पना और बाध ने तोड़ा कि धर्म के पृथक होने से कुछ नहीं बिगड़ना, अगर देश और संस्कृति एक हों। देश और संस्कृति के प्रति इस नम्यता ने ही नाना धार्मिक-जातीय संप्रदायों का एक तृहत्तर भारतीय समाज का नक्शा दिया। यहाँ के धार्मिक नक्शे का तोड़ कर ही, देश को भी ताड़ा जा सकता है, इस साम्राज्यवादी कूटनीति के तहत ही ब्रिटिश साम्राज्यवाद के पिढुओं ने भारत की संस्कृति पर लगातार आघात किये। पश्चिमी साम्राज्यवाद का यह दुष्टक्रम आज भी ज्यों-का-त्यों कायम है। संस्कृति और देश के विरुद्ध मजहबों जहगुबाद के नुस्खे ने ही पाकिस्तान पैदा किया। हिंदुओं से पूरी तरह तोड़ने के लिए मुसलमानों को देश और संस्कृति के एक होने के बाध से काटने को जरूरी था कि उनका रुख करावा, कलीसा और मक्का-मदीना के धार्मिक मिशनों के द्वारा मूल इस्लामी मुल्कों की तरफ मोड़ दिया जाये। और मोड़ दिया गया।

अब हम हिंदू-मुसलमान के मवाल की उस सबसे नाजुक नग का भी झूना दाहग, जिसे हमने माना के दूध के रिश्ते का तकाजा कहकर, कुछ दर का यों ही सन्नाट में छोड़ दिया था। हालाँकि इशारा हमारा तभी भी साफ था। आखिर किसे किसे सट्टाई से इनकार करेगा भारत का मुसलमान ? ठाठ के ठाठ का जो बलान, या हिंदू मवाल में कोड़ की तरह व्याप्त धार्मिक-जातीय सर्कीणता के चलन, धर्मांतरण हुआ, इससे ? शहशाह जहागीर की अम्मी हुजूर जाधाबाई तो बहुत बाद की चीज है, किसे करेगा आप इनकार, अमीर खुसरों के राजपूतानी के गर्भ और दूध में पले होने से ? कौन बालता रखा है, अमीर खुसरों के लिख में 'छाप तिलक सब छीनी, र, मोरमा नैना मिलाये के।' फारसी की चारदीवारी छलांग कर हिंदवी के अविष्कार का करिश्मा, क्या यों ही सैत मत में खड़ा कर दिया खुसरों ने ? 'वल खुसरों घर आपन, रन भई येहि देश' के परम वैरागी और विषादी स्वर का मूलग्रान कहा है ?

कहने की अनुमति चाहें हम कि सुफियाना अदाज और वेदिक औपनिषदिक चिंतन सवदन तथा स्मृतिबाध का सगम- यही पहला गंगा-जमुनी घमत्कार है ? यह मुसलमान के खून में राजपूतानी के दूध के घुलन की ऐसी अपूर्व-अनन्य कथा है जिसमें कुछ भी ठीक-ठाक वही समझ सकता है, जिसकी ईशिया धर्म, मजहब या जाति की धर्मा में

मठन-मठन सुन्न न हो गयी हां। कैसे देश, इतिहास, काल और सस्कृतियों के निशान आदमी न प्रतिबिम्बित होते हैं और कब फूटता है, हाड-मांस की ठठरी में से, महाकाव्य । -सुमरा इसी गंगा-जमुनी सगम की उत्पत्ति है, कि कहा तक जाता है माता के दूध का रिश्ता ? खाय तौर पर जब मातृमत्ता की अवधारणा माता पृथिवी के महाबोध तक जाती हो। जबकि मिट्टी सारे मजहबों के लिये समान होने का दावा लिये मुस्कराती हो। राजपूतनी से लेकर एक महादेश और उसके सांस्कृतिक गोमुखों तक का यह अनहद तार-खुमरा के लिख में जिस इसकी अनुगूज नहीं सुनायी पड़ती हो तब है कि उसकी श्रुति सुन्न है और इस सुन्नपन का विस्तार ही पैदा करता है- पाकिस्तान ।

दश और सस्कृति से बड़ा इस्लाम को घोषित करने वाले हिंदुस्तानी मुसलमान से उसकी गिरवा पकड़ कर क्यों न पूछा जाये कि ईराक, तुर्की, सऊदी अरब यहाँ तक कि जुम्हा-जुम्मा आठ राज के पाकिस्तान तक को इस्लाम मुल्क से बड़ी चीज नहीं, एक तुम्ही क्या खुदाई कायनात के ऐसे अजूबे हो कि तुम्हारा इस्लाम बाकी सारे इस्लामी मुल्कों के इस्लाम से बड़ा है ? एक तुम्ही को होता है इलहाम कि काबा-मदीना की यात्रा की कृष्ण सम्प्राप्त नहीं, अगर कि मजहब को मुल्क से और अगर तुम्हारा दावा कि हा, तुम्हें हर हाल में मजहब मुल्क से बड़ा है, तो फिर क्यों खुद की गद इस मुल्क की भरजमी पर बिखरना चाहते हो ? क्यों खूब खड़ा कर रहे हो यहाँ एक और इस्लामिस्तान का ? तब है कि अगर तुम्हें सधमुघ इस्लाम इस देश और यहाँ की सस्कृति से बड़ा है, तो तुम आज नहीं, तो कल, कल नहीं तो परसों- अगर परसों- नरसों नहीं भी, तो बरसों में सही- फिर 'ये सस्कृति' धिल्लाओ जरूर।

जो अपनी जड़ों से इनकार करता हो, वह किसी का वफादार नहीं हो सकता। न देश और सस्कृति, न इस्लाम का, क्योंकि ऐसा जड़कटा इन्सान सियासी मजहबी शैतानों की प्रतवाधा का शिकार होता है। फिर चाहे, वह हिंदू हो या मुसलमान, सिख हो या ईसाई-पारसी हो या ईरानी-तुरानी । जो अपने वतन के प्रति वफादार नहीं, वह किसी के प्रति वफादार नहीं। पाकिस्तान इसी बवफाई का नमूना है। यह भी नहीं भूलें हिंदुस्तानी मुसलमान कि 'ऐ हमारी कौम के लोग, इस्लाम खतरे में है !' के अजानिया न ही 'हिंदू और हिंदू' के भारत के हिंदुओं, आखें खोलो।' के उस अधराष्ट्रवाद की जमीन तैयार की जा रही है। सस्कृति के एक काल अध्याय की शक्ल लेता जा रहा है।

आप हमारे लेख जाँच का ? ध्यान रहे कि उद्देश्य का सवाल हमें पाले में उठा लें और इस यावधानी में ही कि इस सफट से आखिर का ही चाम्ना पड़ता है। अगर उद्देश्य हमारे कह को हिंदू सांप्रदायिकता के एक कट्टर प्रतिनिधि का बर्तान बाधित करना हो, तो इसकी भी गुजाइश होगी, लेकिन यह गुजाइश भी यह कि ना कुछ कागज इस्लाम या हिंदुस्तानी मुसलमान की तौहीन नहीं, शान में कहा गया है।

जो लोग चश्मा लगा कर खोजना चाहे कि हिन्दुस्तानी मुसलमान का हिंदुओं से दबाकर रहने की हिदायत दी गयी है- और इसी में गढ़ा गया है, हिन्दुओं के भारत की मुख्यधारा होने का शास्त्र- उनसे हम सिर्फ इतनी ही गुजारिश करना चाहेंगे कि इनसान को प्रेम में दबाकर रखने की बात कोई कुफ्र नहीं। मुसलमान अगर किन्हीं हिंदू-सिख-ईसाई को ठोंगे पर रख कर चलना चाहें, तो इसमें कुछ ज्यादा खतरा नहीं, क्योंकि जो भी प्रेम और ईमान के रास्ते पर न हों, उसे ठोंगे पर ही रखा जाना चाहिए, लेकिन देश और संस्कृति को ठोंगे पर रखने के नतीजे भारी पड़ेंगे। मजहब को देश से बड़ा करार देना, देशद्रोह के सिवा कुछ नहीं समझा जायगा, न समझा जाना चाहिये, क्योंकि यही नासमझी हिंदू राष्ट्र की नींव भरेगी। जब सल्तनत देखगी कि अब सिवा इसके अखंड सत्ता का कोई और रास्ता नहीं, तब देश और जनता के हित में अखंड हिंदू राष्ट्र की अपरिहार्यता का तर्क गढ़ते उसकी जबान लड़खड़ायेगी नहीं।

क्या करना है मुसलमान को हिंदू, और क्या करना है हिंदू को मुसलमान का- दो फिकरों में यही है हिंदू और मुसलमान का सवाल और यह जवाब न किसी को पहले देना है, न किसी को बाद में, क्योंकि इनसान यदि सवाल-जवाब में साथ-साथ नहीं, तब सचमुच का साथ कहाँ होगा ?

['चौथी दुनिया' जुलाई १९८८]

भारतीयता की समझ का इमामबाड़ा

पुरुषोत्तम अग्रवाल का लेख 'भारतीयता के खिलाफ खड़ा है हिन्दूवाद' (चौथी दुनिया २३ अगस्त १९८८) बौद्धिक उतावनी का एक नमूना है, वह भारतीयता के खतरे और धर्म के अपरिहार्य होने की बात तो करते हैं, लेकिन अल्पसंख्यकों की पीठ थपथपाने की स्वतः स्फूर्त सदाशयता में इस सच्चाई को ताक पर रख देते हैं कि चूंकि भारतीयता सिर्फ हिन्दुओं की बपौती नहीं, इसलिए उसकी जिम्मेदारी भी सिर्फ हिन्दुओं के मत्थे नहीं मढ़ी जा सकती। पुरुषोत्तम इस बहस में उतरना ही नहीं चाहते कि भारतीयता आखिर है क्या, और उसके खिलाफ क्या सिर्फ हिन्दूवाद ही खड़ा है ?

वह मन ही मन डरते तो हैं कि देश टूट भी सकता है, लेकिन इस सवाल में उनकी कोई दिलचस्पी नहीं कि देश के टुकड़ों में बटने का खतरा बहुसंख्यकों की सांप्रदायिकता ने उत्पन्न किया है या अल्पसंख्यकों की ? या कि यह सारा खेल उस औपनिवेशिक सत्तातंत्र का है, जिसने राष्ट्र के नागरिकों, बल्कि संविधान तक को अल्पसंख्यकों, बहुसंख्यकों या अनुसूचितों के खानों में बांट रखा है ? उनका सारा जोर अल्पसंख्यकों की सांप्रदायिकता का तार्किक आधार खड़ा करने में है।

पुरुषोत्तम का कहना है- 'सवाल उठता है कि ऐसी वफादारी का मतलब क्या अपनी धार्मिक आस्था, पारंपरिक संस्कृति और परिवेश से नाता तोड़ लेना है ? क्या भारतीय होने की शर्त यह है कि असलम इसलाम से हाथ झाड़ ले और विक्टर ईसा से पिंड छुड़ा ले ? क्या भारतीयता की यही मांग है कि मैं अपने प्रांतीय गौरव, धार्मिक आस्था, रीति रिवाज, परंपरा से जबरन जुदा कर दिया जाऊ ? क्या भारतीयता ऐसी चट्टान है, जो अपने नीचे की वनस्पति को कुचल कर ही अपना अस्तित्व बनाये रख सकेगी ?'

'हिन्दू-मुसलमान का सवाल' में कहा किन शब्दों में ऐसी बातें कही गयी हैं ? साफ है कि यह सब मतव्यसिद्धि में गढ़ा गया है। खुद ही गढ़ फैला कर, खुद ही दूसरों का ध्यान आकर्षित करने की यह स्वतः स्फूर्त चिंतनप्रणाली ठीक नहीं। विचार की पहली शर्त सच्चाई है, सच्चाई से हाथ झाड़ लेना या तथ्यों से पिंड छुड़ा लेना नहीं। पुरुषोत्तम अग्रवाल यह भ्रम निर्मित करने पर तुले हैं कि 'हिन्दू-मुसलमान' का सवाल में

अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी धार्मिक आस्था, संस्कृति, पहचान परम्परा और रीति-रिवाजों और प्रांतीय गौरव का ताक पर रख कर ही भारत में रह सकने की सुनौती दी गयी है, जबकि 'हिंदू-मुसलमान का सवाल', लेख में ऐसा कहीं नहीं, और कतई नहीं कहा गया है।

'हिंदू-मुसलमान का सवाल' में कहा गया था कि अल्पसंख्यक वर्गों में मजहबी जुनून का फैलाव ही बहुसंख्यकों के धर्मोन्माद को हवा देता है, इसलिए देश और भारतीय संस्कृति के हक में होगा कि मुल्क से पहले या ऊपर मजहब के सिंहासिने को तोड़ा जाये, क्योंकि इस तर्कप्रणाली से पहले पाकिस्तान कायम हो चुका है और अब 'खालिस्तान' का झंडा हवा में है। कठिंचितन की एक बानगी देखिए। उनका कहना है- 'अल्पसंख्यक सांप्रदायिकता अपने धर्म पर अलग देश की मांग करने वाली है और बहुसंख्यक साम्प्रदायिकता चूंकि अलग देश की मांग तार्किक रूप से कर ही नहीं सकती, तो वह संस्कृति के राक्षसीकरण और सत्ता के फासिस्टीकरण की रणनीति जमाने लगती है। इसका मूल कारण यह है कि बहुसंख्यक सांप्रदायिकता बड़ी आसानी से उग्र राष्ट्रवाद का सम्मान ले सकती है, अन्य सांप्रदायिकताओं को यह सुविधा प्राप्त नहीं है।'

क्यों, पाकिस्तान के मुसलमानों का क्या 'राष्ट्रवाद' की सुविधा अभी तक प्राप्त नहीं हुई ? अभी भी उनका राष्ट्र भारत ही है ? 'खालिस्तान' बन गया तो 'खालिस्तान-वादी' सिखा का 'उग्र राष्ट्रवाद' की सुविधा कानी चाहिए ? अल्पसंख्यक सांप्रदायिकता पृथक राष्ट्र की मांग करे तो वह तार्किक रूप से की गयी मांग होगी और बहुसंख्यक सांप्रदायिकता चूंकि बहुसंख्यकों की वस्तु है, इसलिए उसे ऐसी सुविधा प्राप्त नहीं होगी ?

अल्पसंख्यक सांप्रदायिकता को तो अलग देश और राष्ट्रवाद की तार्किक सुविधा आप प्रदान किये दें हैं, बहुसंख्यक सांप्रदायिकता इस क्या कहीं से प्राप्त नहीं कर सकेगी ? आप कहें योंही भी कि जो मुस्लिम अल्पसंख्यकों को सतज सुलभ होगी, उसे प्राप्त करने में बहुसंख्यक सांप्रदायिकता क्या असफल रहेगी ? सिर्फ इसलिए कि चूंकि अलग देश और पृथक राष्ट्रवाद का तार्किक आधार आपकी मुट्ठी में बंद है ?

पुरुषोत्तम भाई यह भी कतई नहीं बताते कि 'अल्पसंख्यकों की सांप्रदायिकता' के धर्म पर पहुंचने के तर्क से आखिर वा कहना क्या चाहते हैं ? इतना इशारा तो उन्होंने स्पष्ट रूप से किया है कि जब अल्पसंख्यकों की सांप्रदायिकता धर्म पर पहुंचेगी तो अलग मुल्क की उनकी मांग स्वाभाविक मान ली जानी चाहिए, नहीं तो यह नहीं बताया कि अल्पसंख्यकों की सांप्रदायिकता को धर्म पर पहुंचना कब चाहिए ?

जब बहुसंख्यक समुदाय उनकी धार्मिक आस्था, आरपता, पहचान और संस्कृति का कुत्तने पर उतर आयें ? या कि जब भी अल्पसंख्यकों का लगे कि देश का दुकड़ा में बाट कर, अपना हिस्सा अलग कर लेने का एक ही रास्ता है- सांप्रदायिकता को धर्म पर उठा ले जाना ? पाकिस्तान किस्म बात का गानुन है ? बहुसंख्यक समुदाय के धर्म धार्मिक

आस्था, अस्मिता और रीति-रिवाज को कुचले जा रहे हाने की प्रतिक्रिया का- या कि देश को दो टुकड़ों में बाँटने की साजिश के तहत चरम पर पहुँचायी गयी अल्पसंख्यक सांप्रदायिकता का ? अगर पाकिस्तान की निर्मिति का तार्किक आधार मुसलमानों की सांप्रदायिकता का चरम पर पहुँच गया होना मान लिया गया- तब 'खालिस्तान' का तार्किक आधार क्या सिर्फ इसलिए रद्द मान लिया जाये कि चूकि बीच में दो अदद लार्ड और लेडी माउंटबेटन नहीं ?

'खालिस्तान' की माग बहुसंख्यक हिंदू समुदाय के द्वारा अल्पसंख्यक सिखों के दमन और उत्पीड़न की प्रतिक्रिया में सामने उपस्थित हुई, या कि 'खालिस्तान' के रूप में देश का एक टुकड़ा और अलग कर लेने की साजिश के तहत ? क्या भाई पुरुषोत्तम जी इस तथ्य से भी इनकार ही करना चाहेंगे कि 'खालिस्तान' का सपना पाकिस्तान की हकीकत की ही प्रतिच्छाया है ? कुछ और बहस में जाने से पहले यह कि 'हिन्दू-मुसलमान का स्वतन्त्र' लेख में स्थानाभाव में छपने में रह गये एक अंश का उद्धृत करने की इजाजत चाहेंगे ? वह अंश इस प्रकार है-

'जो भागन की मिट्टी में सना, जिसके हिंदू-मुसलमान-सिख ईसाई-जैन-कुम्हार की हैसियत के सारे झगड़े इस मिट्टी के वृत्त के भीतर के हैं, जिसकी सारी लड़ाई भारत की सरहद में बने रहने के जदोजहद की है- जो इस देश की संस्कृति में से कुछ तोड़ता नहीं, बल्कि जितना बन पड़े, जोड़ता है और कुछ न सही एक सहज राग और विश्वास भी सही- ऐसे तमाम लोगों के लिए भारत अपना देश रहा है। सूफी-संतों की वाणी की तरह, गंगा-जमुनी संस्कृति इसी भारतीयता की गवाही है। यही तानसेन, बड़े गुलाम अली, फैयाज खाँ या अमीर खाँ और भीमसेन जोशी, ओंकार नाथ ठाकुर और कुमार गंधर्व के अलापों को जुड़वा भाइयों की सी आवाज और तान का रूप प्रदान करती है।

अब आना चाहेंगे, हम भाई पुरुषोत्तम की 'हिंदू सरकार' वाली बात पर। फिर उस दोटूक जवाब के साथ कि कांग्रेसी हुकूमत हिंदू सरकार नहीं है। भाई पुरुषोत्तम को इस सवाल में जरूर जाना चाहिए था कि आखिर क्या कारण है कि कांग्रेसी हुकूमत को धर्मनिरपेक्ष सरकार मानने-मनवाने में सत्तातंत्र में शामिल अल्पसंख्यक वर्गों के नेता ही सबसे आगे हैं ?

ऑपरेशन ब्लूस्टार और दिल्ली दंगों में अगर कांग्रेसी हुकूमत की 'हिंदू बैकलेश' को भुनाने की कूटनीति काम कर रही थी, तो इस पर पहला एतराज सत्तातंत्र में शामिल सिख नेताओं को होना चाहिए था, क्योंकि वास्तविकता को वो सबसे ज्यादा जानते थे और जानते हैं- लेकिन तब राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह ने ले कर सरदार बृट्टा सिंह तक ने ऑपरेशन ब्लूस्टार की अपरिहार्यता और नवंबर दंगों में सत्ताकेन्द्र की बेमिसाल धर्मनिरपेक्षता के प्रमाण पत्र बाटने में हिंदू नेताओं से कम स्वतः स्फूर्त राष्ट्रीयता का प्रदर्शन नहीं किया। मेरठ दंगों में अगर पी० ए० सी० की हिंदू सांप्रदायिकता का विस्फोट दिखाई पड़ा है, तो इस पर भी सबसे पहला और सबसे गहरा एतराज सत्ताकेन्द्र के मुसलमान

नुमाइदों को होना चाहिए था, क्योंकि मुसलमानों के प्रति सत्तातंत्र के रुख की जितनी सही पहचान उन्हें हो सकती है, दूसरों को नहीं, लेकिन मोहसिना किदवई से लेकर तारिक अनवर तक, सरकार की धर्मनिरपेक्षता और अल्पसंख्यकों से प्रतिबद्धता का राग अलापने में सबसे आगे सत्तातंत्र के मुसलिम नेता ही हैं।

अब हम इतना साफ कहना चाहेंगे कि कांग्रेसी हुकूमत हिंदू सरकार नहीं, बल्कि शुद्ध सांप्रदायिक सत्तातंत्र है और सांप्रदायिक राज्यतंत्र की यह नियति है कि आखिर-आखिर फासीवाद में बदल कर रहे। जिसे पुरुषोत्तम भाई हिंदू फासीवाद और राक्षसी संस्कृति का उदय करार दे रहे हैं, वह हिंदू समाज नहीं, कांग्रेसी हुकूमत की देन है। सत्ता पर वशानुगत कब्जा बनाये रखने की प्रक्रिया और इसे खुद के आर्थिक साम्राज्य की सुरक्षा के लिए कारगर मानने की पूजीवादी कूटनीति ने आज संसद को उस खतरनाक मुकाम पर पहुंचा दिया है, जहां वह सांप्रदायिक और औपनिवेशिक ताकतों से गठजोड़ को बाध्य सत्ताकेंद्र के हाथों की कठपुतली बन कर रह गयी है।

सत्ता के व्यक्ति में केंद्रीकरण की परिणति अंततः एकाधिकारवाद में होती है, संसदीय लोकतंत्र में नहीं। सरकार की जगह फौज या पुलिस की हिंदू साम्प्रदायिकता और आम लोगों की भीड़ की स्वतः स्फूर्त हिंसा का हौवा खड़ा करने में ऐसे ही बुद्धिजीवी सबसे आगे हैं जो इस सच को छुठला देना चाहते हैं कि विभाजन के साथ ही यदि मुसलिम राष्ट्र पाकिस्तान की बगल में हिंदू राष्ट्र खड़ा नहीं हो गया, तो इसलिए कि हिंदुओं में सिर्फ गुरु गोलेवलकर व वीर सावरकर ही नहीं, इस बात की तमीज रखनवाले आम लोग भी थे और हैं जरूर, कि- भारत को 'हिन्दूस्थान' में बदलना ही भारत की परंपरा, संस्कृति और संवेदना की हत्या करना होगा।

भाई पुरुषोत्तम बतायेंगे कि यह आम लोगों की भीड़ की स्वतः स्फूर्त हिंसा क्या होती है ? क्या देश में गृहयुद्ध शुरू और कानून का राज खत्म हो चुका है ? बर्बर दगाड़ियों की स्वतः स्फूर्त हिंसा अपना राक्षसी नगनाच कांग्रेसी हुकूमत के दायरे से कहीं बाहर की दुनिया में दिखाती रही है या कि तथाकथित धर्मनिरपेक्ष सरकार की आंखों के सामने ही नहीं, बल्कि उसके पुलिसिया पहरे में ?

फौज या पुलिस बल राज्य सरकार के आदेश और उसकी मंशा के विरुद्ध कोई काम नहीं कर सकते। अगर करें तो इसे राज्य से विद्रोह करार दे कर कुचल दिया जाता है। पी० ए० सी० और सिख फौजियों के राज्य सरकार की मंशा के विरुद्ध आचरण की कहानी क्या बताती है हमें ? भाई पुरुषोत्तम ने उठाया कभी यह सवाल कि जो सलूक पी० ए० सी० और फौज के सिख विद्रोही जवानों के साथ किया गया, वही नवंबर ८४ और मई १९८७ के दगाड़ियों और इन्हे शह देने वाले पुलिसवालों के साथ क्यों नहीं किया गया ?

हमने यह सवाल एक नहीं अनेक बार उठाया है और कहना चाहेंगे कि खुद सरकार के भी हित में उठाया है, क्योंकि भीड़ की हिंसा को राज्य का संरक्षण, कानून और न्याय की खुद इसके अभिरक्षकों के द्वारा खुली हत्या है। जो व्यवस्था एक तरफ कानून के

शासन का दावा और दूसरी तरफ दगाइयों को सुरक्षण प्रदान करे, उसके फासीवादी होने में सदेह नहीं होना चाहिये।

सच्चाई यह है कि सत्तातंत्र के दशमुखी होने के कारण सारे चरम सांप्रदायिक तत्वों का जमावड़ा केंद्र में हो गया है। भारत के हिंदू, मुसलमान, सिख या ईसाई समाज की माग या जरूरत सांप्रदायिकता नहीं। सांप्रदायिकता सत्तातंत्र और उसके उपजीवी सांप्रदायिक तत्वों की बदरबोट की देन है। हिंसा और बर्बरता की आसुरी वृत्तियों का यह राष्ट्रव्यापी प्रसार इन्हीं तत्वों की देन है और इस राक्षसी सत्तातंत्र के विरुद्ध हिंदुओं को ही नहीं, सारे भारतीयों को एकजुट हो कर संघर्ष करना है, क्योंकि राक्षसी तत्वों का समावेश प्रत्येक समुदाय में है, सिर्फ हिंदुओं में नहीं। अल्पसंख्यक सांप्रदायिकता की पीठ थपथपाना बहुसंख्यकों को भडकाना है।

भारतीयता के खिलाफ सिर्फ हिंदूवाद ही नहीं खड़ा है। इस्लामवाद, खालिस्तानवाद और पूंजीवाद वगैरह नानावाद भारतीयता के उतने ही बड़े दुश्मन हैं। सांप्रदायिकता का जहर घोलने का काम औपनिवेशिक और पूंजीवादी ताकतों की कठपुतली कांग्रेसी हुकूमत का है। वही सारे समुदायों में सांप्रदायिक तत्वों को बढ़ावा देती चली आ रही है। प्रत्येक समय में वही तत्व आसानी और तेजी से पनपते हैं, जिन्हें राज्य का सुरक्षण प्राप्त हो। आज भ्रष्टाचार, हिंसा और अपसंस्कृति के परनाले चारों ओर फूटे पड़े हैं, तो इसीलिए कि राज्य व्यवस्था ऐसे भ्रष्ट, विकृत और बर्बर लोगों के हाथों में है, जो राष्ट्र-समाज के नैतिक मूल्यों व सवालों से पूरी तरह उदासीन हैं।

जब भारतीय संस्कृति और गांधी के मूल्यों की रक्षा की जिम्मेदारी सिर्फ हिंदुओं पर आरुप होती हो, तब भारत भी सिवा हिंदू राष्ट्र के और कुछ क्यों कर होगा ? देश में साझा सबका, लेकिन संस्कृति और नैतिकता का हडा माथे पर लिये घूमने की जिम्मेदारी सिर्फ हिंदू समुदाय पर ? साझा संस्कृति के सारे दायित्व भी साझे के होते हैं। भारतीयता सिर्फ हिंदुओं की चीज नहीं, इसे सारे समुदायों के हाथों का स्पर्श चाहिए। भारतीयता विभिन्न धर्म और रीति-रिवाजों के एक डोर में गुथे होने का नाम है और इस डोर को अटूट रखने की जिम्मेदारी भी सब पर समान है।

रह गया गांधी का सवाल, तो सवालों से ऊपर कोई नहीं। गांधी की सबसे बड़ी पराजय क्या है ? किस हादसे ने इस महान युगद्रष्टा को इस तरह तोड़ कर रख दिया कि उसने देश की आजादी के औपनिवेशिक जश्न में शामिल होने से ही नहीं, बल्कि इस तथाकथित महान स्वतंत्रता के पर्व पर दो शब्द बोलने से भी साफ दकार कर दिया। भारत की स्वाधीनता लिए संघर्ष करने को सवा सौ वर्ष जीने की वाछा घोषित करने वाला महामानव आखिर आजादी के दिन ही यह प्रार्थना करता क्यों पाया गया कि- हे प्रभु मुझे मृत्यु दो ।

भाई पुरुषोत्तम भी जानते हैं कि जब गांधी ने कहा कि देश का विभाजन हमारी लाशों पर होगा, तभी पंडित नेहरू एण्ड कंपनी ने भी डका बजाया कि हा, देश का विभाजन हमारी

लाशों पर होगा और यह सच है कि देश का बटवारा लाशों पर ही हुआ और वह भी दस-बीस-पचास या हजार-दस हजार नहीं, लगभग चार लाख लाशों के ऊपर। लेकिन इन चार लाख लाशों में किसी कांग्रेसी नेता की कोई लाश नहीं थी। यहाँ तक कि खुद महात्मा गांधी की भी नहीं और इस बात की तो अब सिर्फ कल्पना ही की जा सकती है कि अगर गांधी की हत्या बिड़ला की आराधना में न हो कर, भारत-पाकिस्तान की सीमा रेखा पर हुई होती, तो इसका पूरे देश के सदस्यों में क्या परिणाम निकलता। लेकिन गांधी की सबसे बड़ी पराजय यही थी कि सकल्य टूट गया। जिस गांधी की रीढ़ में ब्रिटिश हुकूमत के कैसे भी दबाव एक खरोच तक नहीं लगा पाये, उस बिड़ला और पंडित नेहरू एड कंपनी ने रबर का नलका साबित कर दिखा दिया।

गांधी की वास्तविक मृत्यु तभी हो गई, जब विभाजन के लिए गांधी ने भी अपना मस्तक हिला दिया और लार्ड व लेडी माउटबेटन को साफ हरी झंडी मिल गयी कि वो देश को जरायमों के हवाले कर दें। भाई पुरुषोत्तम जिस राक्षसी संस्कृति के उदय की बात कर रहे हैं, उसके बीज हिंदू सांप्रदायिकता में नहीं, लीगी और कांग्रेसी हुकूमत की उस बदरबाट में हैं, जहाँ से लाखों निदार्थों की लाशों पर सत्ता का शाही जश्न मनाने की बर्बरता का प्रारम्भ हुआ। हमने कहा कि पाकिस्तान हिंदू सांप्रदायिकता नहीं, मुस्लिम लीगी सांप्रदायिकता की सृष्टि है और भाई पुरुषोत्तम इतना बिदक गये कि उनकी आर्गेनिक बुद्धिजीवित्व ही घरमरा उठी? पुरुषोत्तम को बताना चाहिए था कि पाकिस्तान अगर मुस्लिम लीगों सांप्रदायिकता नहीं, तो और किस की निर्मिति है? हमने कहा कि पाकिस्तान मुस्लिमानों की कमजोर नब्ज है, हिंदुओं की नहीं- पुरुषोत्तम को बताना चाहिए था कि इसमें झूठ कहाँ है?

हमने कहा कि मजहब के नाम पर पाकिस्तान के बन चुकने के बाद भी 'मुसलमानों को इस्लाम पहले है, मुल्क बाद में', का जहरीला नारा उछालने वाले लोग गंगा-जमुनी सभ्यता और संस्कृति के हक में नहीं- भाई पुरुषोत्तम को बताना चाहिए था कि नहीं, इस्लाम मुल्क से सवुमघ पहले और बड़ी चीज है। हमारा निष्कर्ष था कि अल्पसंख्यक सांप्रदायिकता का सत्तातंत्र से गठजोड़ बहुसंख्यक सांप्रदायिकता की राजनीतिक सौदेबाजी को बढ़ावा देता गया है- भाई पुरुषोत्तम को बताना चाहिए था कि अल्पसंख्यकों की सांप्रदायिकता को सत्तातंत्र से सौदेबाजी की छूट का तार्किक आधार क्या होगा?

भारतीयता कोरे तार्किक आधारों का नाम नहीं। तार्किक आधार तो फासीवाद सबसे पहले दूढ़ लेता है। भारतीयता किसी भी वस्तु या कर्म के नैतिक और संवेदनात्मक आधार की समझ का नाम है। पृथ्वी प्रत्येक को समान है और जो भी जहाँ की मिट्टी में जुड़ा है, उसका हक अपने रहने की जगह पर सबसे पहला है, तथा धर्म, विचार या राज्य, किसी को भी मनुष्य की इस नैसर्गिक स्वतंत्रता और जमीन के मौजूसी हक के विपरीत जाने की कोई छूट नहीं होनी चाहिए, इस समझ में ही भारतीयता की समझ के आधारभूत तत्त्व अंतर्निहित हैं, प्राण काप उठे होने का नाटक खड़ा करने में नहीं, क्योंकि जिस सिर्फ अपने प्राणों के काप रहे होने का मुगलता है वह दूसरों के प्राणों के कपन को मुनने से इकार

करता है। भाई पुरुषोत्तम को यही मुग़ालता खा रहा है।

ड्रैकुला क हॉरर को वह व्यक्ति कभी महसूस ही नहीं कर सकता, जिसे खुद के झूठों के लिए दूसरों की ज़बान की तालाश हो। भाई पुरुषोत्तम उन तमाम तत्वों को मटियानी और प्रभा दीक्षित में खोजते फिर रहे हैं। ऐसे में हम इतना ही कहना पर्याप्त समझ रहे हैं कि 'वोट' के गांधी के पक्ष में होने से कुछ नहीं होगा, अगर भारतीयता की समझ आर्गेनिक बुद्धिजीविता के इमामबाड़ों में दम तोड़ रही हो।

[चौथी दुनिया, सितम्बर १९८८]

विरोध की

‘कण-कण में व्यापे हैं राम-
मत भड़काआ दगा, लेकर राम का नाग।’

इन पक्तियों वाले पोस्टर आज हर साम्प्रदायिकताविरोधी सम्मेलन में लग, या बाँटते हुए, प्रायः देखे जा सकते हैं। इस नारे को बनाने वाले डॉ० पुरुषोत्तम अग्रवाल अखिल भारतीय साम्प्रदायिकता विरोधी संगठन, दिल्ली के संस्थापक हैं। कर्मठ, सक्रिय और ऊर्जस्वी। आज के अधिकांश सम्मेलनों अथवा यात्राओं में उन्हें प्रायः उपस्थित देखा जा सकता है। पुरुषोत्तम एक आजस्वी वक्ता भी हैं। अध्ययन और सोच-विचार की पूँजी भी उनके पास बिल्कुल है, लेकिन साथ ही एकतरफापन भी और ऊपर दिया गया नारा उनके इसी एकांगी सोच का दुष्परिणाम है।

इसानी बिरादरी, इलाहाबाद तथा इलाहाबाद विश्वविद्यालय के मनाविज्ञान विभाग की साझेदारी में गांधी संस्थान, इलाहाबाद में आयोजित दो दिनों के साम्प्रदायिकताविरोधी सम्मेलन में, तीसरी गोष्ठी का विषय-प्रवर्तन करते हुए, बहुसंख्यकों की साम्प्रदायिकता के खतरों पर जोर देने के लिये डॉ० पुरुषोत्तम अग्रवाल ने सबसे पहले इस नार की उत्पत्ति का इतिहास ही सामने रखा और बताया कि इसका कितनी लोकप्रियता तथा सफलता मिली है। हालाँकि दबे स्वर में उन्होंने यह सफाई जरूर दी कि इस नार में क राम वाल्मीकि, तुलसीदास या कि हिन्दू समाज के आराध्य राम नहीं, बल्कि जन-जन की रामकहानी के राम हैं।

उर्दू के एक प्रसिद्ध शेर की पक्ति इस प्रकार है-
‘इस सादगी पर कौन ना मर जाय, या खुदा’।

सचाई छिपाये नहीं छिपती और अब इतना पूरी तरह स्पष्ट हो चुका कि कम्युनिस्ट पार्टियों या जनवादी, प्रगतिवादी बुद्धिजीवियों के द्वारा आयोजित साम्प्रदायिकता-विरोधी सम्मेलनों का एक ही मतलब होता है- हिन्दू साम्प्रदायिकता का विरोध। मुसलमानों की साम्प्रदायिकता को अल्पसंख्यकों की स्वाभाविक तथा निरापद साम्प्रदायिकता करार देते

हुए, लगातार नेपथ्य में करते घले जाने की यह सुनियोजित कोशिश बहुत सम्भव है कि इन्हे अल्पसंख्यक समुदाय की सहानुभूति बटोर रहे होने का परितोष देती हो, लेकिन विचार के स्तर पर यह सब एक निहायत चालाक किस्म की सियासी हरकत के सिवा और कुछ नहीं, क्योंकि इसके पीछे हिन्दू-मुस्लिम पारस्पर्य की सम्भावनाओं की तलाश नहीं, बल्कि खुद की राजनैतिक गोट बिठाने का इरादा काम करता होता है। इस सारी कोशिश में कबीर की वह ललकार कही नहीं होती, जो 'अरे, ये दोनों राह न पाये' की अनुगूँज उत्पन्न कर सके। तब 'दलगत स्लागन' में राम के 'कबीर का राम' होने का दावा, सिवा एक चालाक बौद्धिक पैतरे के, सचमुच और कुछ रह नहीं जाता।

विचार की यह एक बुनियादी शर्त है कि उसके पीछे खुद के इस्तेमाल का तर्क मौजूद न रहे। विचार एक खुलापन चाहता है। हवा और दिशा की भाँति, सबक प्रति समान होना उसकी पहली शर्त है। उसके केन्द्र में आदमी का होना जरूरी है और सचाई। विचार किसी एक तरफ से, या एक तरफ को, भोंपू लगाकर हवा में छोड़ने की वस्तु नहीं। उसमें पारदर्शिता जरूरी है। अन्यथा उसे आप चाहे जितना तेज उछालिये या उड़ाइये, हवा उसका साथ देगी नहीं और वह थोड़ी ही दूर तक जाकर, लडखड़ाकर गिर पड़ेगा- उस चिड़िया की भाँति जिसके सिर्फ एक ही तरफ के पंख काम कर रहे हों।

'कण-कण में व्यापे हैं राम' के राम हिन्दू समाज के आगध्य राम नहीं, बल्कि जन-जन की रामकहानी के राम हैं- अपनी इस स्थापना के द्वारा डा० पुरुषोत्तम अग्रवाल आखिर किसे समझाना चाहते हैं और क्या ? क्या जन-जन की जो रामकहानी हुआ करती है, उसका हिन्दू समाज से कोई नाता या वास्ता सचमुच नहीं होता ? क्या ऐसी कोई गुजाइश ही नहीं ? कहना कठिन है कि डा० पुरुषोत्तम की इस शोध का आधार क्या है, क्योंकि इस तर्क से तो फिर 'पुरुषोत्तम' (शब्द या नाम) का भी हिन्दू समाज में कोई सम्बन्ध होना मुश्किल ही होगा ?

भाषा को एकतरफा वकालत में इस्तेमाल करते समय, आदमी को भूल नहीं जाना चाहिये कि प्रसंग और स्थान का ध्यान जरूरी है। जब कोई अदालत के वादी या प्रतिवादी वाले कठघरे के पास खड़ा होकर बोलता है, तब एकतरफापन प्रसंग की माँग हो सकता है, लेकिन जब किसी व्यक्ति को एक सुलझे हुए बौद्धिक की हैसियत से विचार व्यक्त करना हो- और मामला हिन्दू-मुसलमान के बीच के सम्बन्धों की तरह नाजुक हो- तो हम फिर यही कहेंगे कि एकतरफापन ज्यादा दूर तक गूँज उत्पन्न करेगा नहीं। जबकि हिन्दू-मुसलमान के प्रसंग में कही गई किसी भी बात की तब तक कोई प्रासंगिकता सम्भव ही नहीं, जब तक कि उसकी अनुगूँज दोनों तक नहीं पहुँचे।

डा० पुरुषोत्तम ने खुलकर नहीं कहा कि जिस राम से उनका तात्पर्य है, साम्प्रदायिकताविरोधी समिति के स्लागन में का वह राम कबीर या कि रहीम का राम है, लेकिन इंगित था। और इशारा, शायद यह भी कि वाल्मीकि और तुलसीदास के राम तो सिर्फ हिन्दू सम्प्रदाय के राम हैं। जबकि कबीर और रहीम के राम भी, तुलसीदास के राम

चाहे हों, या नहीं, लेकिन वास्तविकता यह है कि पशु-संरक्षण का अन्वेषण है- पशु-संरक्षण है।

जाहिर है कि जिसके कंधे पर यह भार है, उसे यह भार नहीं पड़ेगा।
क्योंकि यह उसके विरुद्ध है। तब ही वह अपने भार को अपने कंधे पर
पुरुषोत्तम से उनके 'स्लोगन' में वही बात के रूप में कहेंगे कि विस्तार में मानने से
जिज्ञासा को दुराग्रह नहीं भी माना जा सकता है। तब ही वह अपने भार को अपने कंधे पर
भले ही कोई वास्ता नहीं हो, लेकिन जो 'जन' वह है, वह ही वह 'जन' का ही है।
समाज से कोई वास्ता नहीं हो सकता, वह ही वह 'जन' का ही है।
नहीं। 'हिन्दू समाज' की इस जनवादी अवधारणा के अन्तर्गत ही वह 'जन' का ही है।
मानस के संवेदन और उद्वेलनों को समझना ही सम्मान मानने पर
नहीं पायेंगे।

दूसरे, जब राम की सत्ता में लकार नहीं, तो 'जन-जन की राम' का प्रसंग में यह बताना भी जरूरी होगा कि हिन्दू-मुस्लिम 'मस्जिद' के मामले में हिन्दू समाज की पसंद या कि उसको 'जन-जन की राम कहानी के राम' की भूमिका क्या होगी ?

इधर, हाल के कुछ वर्षों में, ऐसे बुद्धिजीवियों की एक बड़ी जमात सामने आई है, जो जाति से हिन्दू समाज में रहते हुए, बुद्धि से 'बावरी मस्जिद' की वकालत में खड़ा होना धर्मनिरपेक्ष होने का सबूत मानते दिखाई पड़ते हैं। जबकि 'राम जन्मभूमि बनाम बावरी मस्जिद' मामले में हिन्दू-मुसलमान का बराबर का धुवीकरण हिन्दू-मुसलमानों की तकलीफ में आग फूँकने के सिवा कुछ नहीं।

गांधी संस्थान में आयोजित सम्मेलन की मुक्ति भी उसी सिलसिले की एक कड़ी थी, जिसका सारा जोर 'हिन्दूओं की साम्प्रदायिकता' पर धाया बोलने पर हुआ करता है, बिना इस धिता में गये ही कि उद्देश्य क्या है। क्योंकि यदि उद्देश्य हिन्दू-मुसलमान की टकराहट को बढ़ाकर खुद के निहित स्वार्थ साधना हो, तब इसमें क्या शक कि योजना कारगर है। लेकिन अगर कदाचित् उद्देश्य हिन्दू-मुसलमान के बीच की दरारों को पाटना और इनके बीच पारस्पर्य की सम्भावनाओं को विस्तार देना हो, तो रास्ता बदलना होगा।

साम्प्रदायिकता के मामले में किसी एक पक्ष को ही पूरी तरह जिम्मेदार ठहराने से बात बनेगी नहीं, बिगड़ेगी, क्योंकि साम्प्रदायिकता की ताली कभी भी एक हाथ से नहीं बजा करती। देश का दुर्भाग्य कि जिन परिस्थितियों और ऐतिहासिक दरारों ने पाकिस्तान का नक्शा तैयार किया, उनको शेष भारत में जड़ें नहीं पकड़ने देने का वातावरण बनाने की जगह, तथाकथित धर्मनिरपेक्षता की आड़ में ओझल कर दिया गया। 'अलग मजहब के लिये अलग मुल्क' के मजहबी नारे का अजगर जब मुँह खालगा, ज़ायत पैदा करेगा ज़बर, इस वास्तविकता को लगातार झुठलाया और इस प्रकार भारतवर्ष के अर्भी और भी टुकड़े किये जा सकने की गुंजाइश को बनाय रखा गया। हिन्दू-मुसलमान के मामले में यही पद्य

मामला तो रजम जायेगा और खारनाक पद्य तब भी था, आज भी है और आगे भी तब
 'दश' का रजम। 'दश' कि दश तो एक राष्ट्र का आकार देने का सघर्ष नहीं होगा।

हम धर्म का कम अब तो इस वास्तविकता को स्वीकार कर ही लेना चाहिये कि
 'साधनान्मभूति' बनाम बाबरी मस्जिद' मामला गहज मन्दिर-मस्जिद का मामला नहीं रह
 गया, बल्कि इसका सम्प्रदाय हिन्दू-मुसलमान के धुवीकरण, बल्कि कहें कि शक्ति-परीक्षण
 के युक्तक तक पहुँच चुकी है। और अगर हम जान कि भारतवर्ष का हित हिन्दू-मुसलिम
 एकजुटता में ही है तो मानना जरूरी होगा यह भी कि हिन्दू-मुसलमान की इस टकराहट
 में देश की क्षति हर अल में होगी, अगर कि इस आग के दरिया को यही नहीं रोका गया।

अफसान कि अब तक के नाम : 'दश' के सम्मेलनों की भूमिका इस
 मामल में पूरी तरह नकारात्मक ही रही है, क्योंकि, जैसा कि पहले ही कहा, इनका जोर
 एकतरफा दलीलों की कीमत वसूलन पर ज्यादा रहा। हमारे अधिकांश तथाकथित
 बुद्धिजीवियों ने इस सच्चाई को ध्यान में रखा ही नहीं कि किसी
 सम्प्रदाय-विशेष की एकतरफा हिमायत खुद साम्प्रदायिकता का ही एक हिस्सा हुआ करती
 है, जो कि उस सम्प्रदाय-विशेष से इसकी कीमत वसूलन के काम आया करती है। हिन्दू
 और मुसलमान की एक दूरगामी मान्यदारी के मवाल को दिन-प्रतिदिन और कितना
 गड़बड़ा दिया गया है, इसकी एक स्पष्ट तस्वीर इनक 'दश' के सम्मेलनों में
 देखी जा सकती है। अल्पसंख्यका के तुष्टीकरण की आड में आयोजित इन सारे सम्मेलनों
 में हिन्दू मानसिकता को भड़काने का एक ऐसा अनवरत अभियान-सा चलाये रखा है, जो
 कि दश के लिये घातक है। स्वयं मुसलमानों के लिये भी, क्योंकि साम्प्रदायिकता की आग
 को बुझाने के उपाय हिन्दू मानसिकता को भड़काने की योजनाओं में से निकालने कठिन
 होगा।

क्या यह सघमुच एक सयोग-भर है कि इन साम्प्रदायिकताविरोधी सम्मेलनों में सिर्फ
 हिन्दू कट्टरवादिता के परखचे उड़ाये जाते हैं, मुस्लिम कट्टरता के जिक्र तक से बचा
 जाता है। और इस घालाकी का वही एक रटा-रटाया तर्क मौजूद मिलेगा कि
 अल्पसंख्यकों के मजहबी मामलों को छूना उन्हें और आतंकित करना होगा। जबकि
 साम्प्रदायिकता के विरोध का सबसे पहला तर्क यही होगा कि बोलने वाला किसी एक पक्ष
 में न दिखाई पड़े।

समाज के सवाल पर बोलने वाल को जरूरी है कि लोग उसका विश्वास कर सकें
 और यह तभी सम्भव है, जबकि उसकी बातों में यह गवाही मिले कि वह देश और समाज
 का केन्द्र में रखकर बोल रहा है, सम्प्रदाय-विशेष का नहीं। एकतरफा पक्षकारिता आदमी
 का दूसरे पक्ष के लिये सदिग्ध बना देगी और समान प्रतिक्रिया उत्पन्न नहीं करेगी। जबकि
 साम्प्रदायिकता के विरोध के लिये जरूरी है कि दोनों ओर के दोषों को उजागर किया
 जाय। यानी कि अगर मजहबी मामला का छुआ जाना है, तो दोनों ओर के मामलों को
 छुआ जाय। अगर हम इस पहल का नेतिक माहम नहीं, तो बेहतर होगा कि चुप रहे।

हालाकि आज नहीं, तो कल कभी-न-कभी हमें धर्म का समाज के लिये खतरनाक होने की हद तक सवालियों से ऊपर मानने से इकार करना ही होगा, अन्यथा सिवा मजहबी मुल्कों की स्थापना के और कोई रास्ता बचेगा नहीं। किसी एक समुदाय पर ही इस दायित्व को हमेशा के लिये नहीं लादा जा सकता कि धर्मनिरपेक्ष देश का सपना सिर्फ उन्हें ही देखते रहना होगा।

आज हिन्दू-मुस्लिम दोफाड़ का सबसे खतरनाक केन्द्रबिन्दु बने रामजन्मभूमि बनाम बाबरी मस्जिद की जड़ें बहुत दूर तक गई हैं। कुछ भी सकारात्मक पहल तभी सम्भव है, जबकि दोनों छोर ध्यान में हों। हिन्दू असतोष के तार सिर्फ शिवसेना, बजरगदल, विश्वहिन्दू परिषद् या रा० स्व० सघ तक सीमित नहीं। ये अब बाकायदे उस वृहद् हिन्दू समाज तक भी पहुँच चुके हैं, जो धार्मिक अथवा वैचारिक मामलों में उदासीनता की हद तक खुला और धर्म को राष्ट्रवाद से जोड़कर देखने से काफी हद तक बचा रहा है। जिसकी स्मृति में इस प्रतीति के अवशेष अभी भी मौजूद हैं कि एक ही देश में अनेक धर्म साथ-साथ रह सकते हैं। जो अभी देश के भूगोल के अनेकों धर्मों को पर्याप्त होने की धारणाओं के मामले में अन्तिम मोहभंग से नहीं गुजरा है, लेकिन भविष्य की आहट को सुन रहा है।

अगर मुसलमानों के बढ़ाव को नहीं रोका गया, तो देश के अभी ना जाने और कितने टुकड़े करने ही होंगे और इसके सबसे बड़े दुष्परिणाम उन हिन्दुओं को ही भोगने होंगे, जिनका इतिहास धार्मिक राज्यों, या कि मजहब को देश से सटाकर ही देखने के अभ्यास की सरहदों तक नहीं गया है। यह आहट अब बहुत सगठित तौर पर उन हिन्दुओं के कानों में भी लगातार पड़ रही है, जो अब तक हिन्दू साम्प्रदायिकता की मुख्यधारा से दूर-दूर ही बने रहें हैं। ये हिन्दू सगठनों के प्रभाव में साम्प्रदायिकता के प्रति रुझान नहीं, बल्कि अस्तित्व-भय के कारण आ रहे हैं और मानसिक तौर पर भविष्य का डर ही इनके वर्तमान के समीकरण को बदल रहा है। इसलिये सबसे पहले, और सबसे ज्यादा, जोर इस बात पर देने की जरूरत है कि दिखाया जा रहा डर झूठा है। और इसके लिये जरूरी होगा हिन्दुओं को यह बताना कि मजहब के हिसाब से मुल्क के सिद्धांत का भारत के मुसलमानों के द्वारा किन शब्दों में अलविदा कह दिया जा चुका।

साथ-साथ बताना जरूरी होगा यह भी कि खुमैनी के अन्तर्राष्ट्रीय मजहबी खुमार की सरहदें कैसे सिर्फ ईरान तक ही सीमित हैं। और कि कैसे मजहबी दिग्विजयों के सपने अब वास्तव में अतीत की सामग्री बन चुके। 'मुसलमान जहाँ भी हैं, वो देश से पहले कौम का हिस्सा हैं', कश्मीर के मामले में पाकिस्तान के इस मजहबी जेहाद के तर्कों को नेस्त-नाबूद किये बिना, हिन्दुओं के भीतर के डर को निकालना असम्भव ही होगा। खासतौर पर वर्तमान परिस्थितियों में, जबकि मजहब में अलग और आबादी में बहुसंख्यक होने के तर्क से कश्मीर को भारत से अलग करने की मुहिम अपने चरम पर है और सरकार में यह सकल्प अभी भी कहीं नहीं दिखाई पड़ रहा कि वह कश्मीर को सिर्फ जबानी तौर पर ही नहीं, बल्कि यथार्थ में भी राष्ट्र का अभिन्न अंग मानती है। क्योंकि देश

का अभिन्न अंग दूसरे सारे अंगों से शताब्दियों तक के लिये विशेष कानूनी दर्जा किस तर्क से पा सकता है, इस सवाल का सरकार के पास कोई जवाब नहीं। सरकार खुद के झूठ को सच साबित करने पर तुली है, जबकि कश्मीर का जहर कन्याकुमारी तक फैल चुका। कश्मीरी हिन्दुओं को निष्कासन ने कश्मीर की समस्या की पिछली सरहदें छोड़ दी हैं।

इलाहाबाद के इस साम्प्रदायिकता-विरोधी सम्मेलन में सांसद सुभाषिनी अली भी आई थीं और कश्मीर के मामले में उनका सारा जोर इस बात पर था कि कश्मीर के बहुसंख्यक मेरठ, मुरादाबाद और भागलपुर से सहमे हुए हैं और उन्हें डर है कि अगर कश्मीर को भारत में वास्तव में मिला लिया गया, तो उनके साथ भी यही होगा।

ऐसे में भारत की हिन्दूबहुलता का साम्प्रदायिक दंगों का मूलकारण बताने वालों को इस सवाल का जवाब भी देना जरूर चाहिये कि कल अगर यह अनुपात बदल जाय, अर्थात् भारत में मुसलमानों की संख्या चौरासी और हिन्दुओं की बारह-तेरह प्रतिशत हो जाय, तो क्या तब हिन्दू अल्पसंख्यक सचमुच आज के मुस्लिम अल्पसंख्यकों से बेहतर स्थितियों में होंगे? जाहिर है कि इस सवाल का जवाब जानने को सिर्फ कश्मीर ही काफी है।

सच्चाइयाँ कितनी भी कड़वी हों, उनसे मुंह चुराकर समस्याओं का हल असम्भव है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दुओं में ऐसे लोगों की संख्या बढ़ती जा रही है, जिनमें साम्प्रदायिक कट्टरता हिन्दू राष्ट्रवाद के उस दुःस्वप्न की हद तक भी पैरों लेने लगी है, जो अतंतु हिन्दू समाज और भारतीय संस्कृति के लिये भी खतरनाक ही साबित होगी, क्योंकि अधराष्ट्रवाद ऐसे ही दौर में गहरी जड़ें डालता है, जब राष्ट्र की चेतना लुज-पुज हो चुकी हो। और अगर हम मानते हो- जो कि हमें मानना ही चाहिये- कि अधराष्ट्रवाद चूँकि संवेदन के स्तर पर कट्टर बनाता है, इसलिये न सिर्फ संस्कृति, बल्कि अंततः देश की गम्भीर क्षति करता है, तो इस मामले में राष्ट्रीयता और राष्ट्रवाद के बीच की विभाजक रेखा तय करनी ही होगी और अगर पता चले कि राष्ट्रीयता की परिणति राष्ट्रवाद में होना अपरिहार्य है, तो राष्ट्र की अवधारणा को ही त्यागना होगा, क्योंकि आदमी से बड़ा कुछ नहीं। आदमियत को पूरी सृष्टि के दायरे में देखना जरूरी है। इसलिये आज देश की यह सबसे गम्भीर और गहरी जरूरत है कि हम हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता के उन तमाम सुलगते सवालों को अपनी चेतना और संवेदना के स्वरूप पूरे आकार-प्रकार में आने दें, जिनको कि हम टालते ही चले आये हैं।

भूलना नहीं चाहिये कि ऊपरी तौर पर, फिलहाल भले ही राम जन्मभूमि और बाबरी मस्जिद का मसला ही हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता का केन्द्र बिन्दु दिखाई दे रहा हो, लेकिन वास्तव में इसकी जड़ें देश को धर्म और मजहब के हिसाब से टुकड़ों में बाँटने के उस इतिहास से ही गुँथी हैं, जिसका नाम पाकिस्तान है और कि जो आज खालिस्तान की अवधारणा की पृष्ठभूमि बना हुआ है। क्योंकि अगर भारत का विभाजन नहीं हुआ होता, और हिन्दू-मुस्लिम साझा पूरी तरह आकार ले पाता, तो इतिहास के पन्ने भी दखलदाजी नहीं कर पाते। इतिहास को भी आखिर आदमी ही चलाता है, इतिहास आदमी को नहीं चलाता।

विभाजन, कह लें कि गंगा-जमुनी सस्कृति और भूगोल के दोफाड़, की नौबत नहीं आने पर इतिहास को सिर्फ हिन्दू-मुसलमान राजाओं की लड़ाइयों के दस्तावेज के तौर पर देखा जा सकता था, हिन्दू-मुसलमान की लड़ाई के रूप में नहीं, क्योंकि सदियों की आपसदारी ने ऐसी जमीन तैयार कर दी थी, जहाँ झगड़े चाहे लाख होते रहे हों, साम्प्रदायिक दंगे नहीं होते थे। ऐसे में अगर गहराई में जाकर देखें, तो हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता के भयानक दुष्परिणामों को बचाने का सिवा इसका कोई रास्ता नहीं कि एक देश में अनेक धर्मों के सहअस्तित्व के सिद्धांत को व्यापक सामाजिक आधार दिया, और सत्ता की राजनीति की उस राष्ट्रघाती प्रवृत्ति पर गहरा अकुश लगाया जाए, जो कुर्सियों का मामला सामने आने पर देश और समाज की आंतरिक अधिरचना के सवाल को ताक पर रखते देर नहीं लगाती।

पाकिस्तान की उत्पत्ति के सवाल को नेपथ्य में डालना हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृतिक संघर्ष के मूल कारणों से मुँह चुराना होगा। इस बात में कुछ दम नहीं कि पाकिस्तान के सवालों में उतरना भारतीय मुसलमानों की दुखती रग को छेड़ना है, क्योंकि यह प्रकारांतर से भारतीय मुसलमानों की भारतीयता पर उगली उठाना है। हिन्दू-मुसलमान की जिस गंगा-जमुनी साझेदारी ने जा एक गहरा रूपाकार लिया था, उसे कुछ झटका औरगजब की मजहबी कट्टरता ने भी दिया, लेकिन हिन्दू-मुसलमान के बीच जहर बोलने की सबसे गहरी साजिश अंग्रेजों ने की। 'फूट डालो, राज करो' की कूटनीति के तहत ही अंग्रेजों ने सिखों को भी उनके एक स्वतंत्र कौम होने का पहाड़ा रटाना शुरू किया, जबकि मुगल शासन के अन्तिम दौर में भी सिखों ने हिन्दुओं से अलग होने का दावा कभी नहीं किया। ऐसे में मानना होगा कि सिखों को हिन्दुओं से अलगाने की साजिश मुसलमान शासकों ने नहीं की थी।

हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता का एक पेंच अब 'ब्लूस्टार ऑपरेशन' और नवम्बर १९८४ से भी जुड़ गया है। सिखों और हिन्दुओं के बीच वैमनस्य के बीज बोने का काम अंग्रेजों से भी बड़े पैमाने पर कांग्रेस (आई) के द्वारा किया गया और सिख तथा हिन्दू, दोनों सम्प्रदायों के क्षुद्रबुद्धि तत्वों के चलते आज नौबत कहाँ तक पहुँच चुकी, अलग से बताना जरूरी नहीं होना चाहिये। इस प्रकार, हिन्दू साम्प्रदायिकता को एक भयावह आत्महता मुकाम तक पहुँचाने में रा० स्व० सघ से कहीं ज्यादा खतरनाक भूमिका कांग्रेस (आई) की रही है। देश का दुर्भाग्य कि विरोधी राजनैतिक दलों ने भी कांग्रेस (आई) को हिन्दू-सिख दोफाड़ का राष्ट्रघाती खेल खेलने को खुला छोड़ दिया और देश के व्यापक हितों की जगह, खुद की सनसनीबाज पत्रकारिता को प्राथमिकता देने वाले अखबारों ने कभी भी इस सवाल को पूरी तरह ऊपर आने ही नहीं दिया कि 'ब्लूस्टार ऑपरेशन' की धमक देश की छाती में कितनी दूर तक जायेगी।

पंजाब की आग ने सामान्य हिन्दू मानस को और अधिक विदीर्ण कर दिया है। सिखों की आड़ जाती रही, इस विदारक अनुभूति ने भी हिन्दुओं को मुसलमानों को लेकर और अधिक सवेदनशील बना दिया है।

ये सब गतें इसलिये कि हिन्दुओं के डर को समझे बिना, उनमें एकाएक बाढ़ की भांति उफनता सम्प्रदाय-बोध को भी ठीक-ठीक नहीं ही समझा जा सकता। अल्पसंख्यकों के सम्प्रदाय-बोध को भी बहुसंख्यकों के सम्प्रदाय-बोध के आलोक में ही कुछ गहरे तक देखा जा सकता है, क्योंकि इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दू सम्प्रदाय-बोध की सरहदें अब साम्प्रदायिक कट्टरता के उन खतरनाक मुकामों तक भी पहुँचन लगी हैं, जहाँ राष्ट्रीयता और अधराष्ट्रवाद के बीच की विभाजक रेखाएं ओझल हो जाती हैं। रा० स्व० सघ के 'हिन्दू राष्ट्र' की अवधारणा का सबसे बड़ा खोट ही यह दिखता है कि इनकी 'हिन्दू राष्ट्र' की अवधारणा 'मुस्लिम कौम' के समानांतर 'हिन्दू कौम' की अधिरचना के सिद्धांत पर टिकी है। 'हिन्दू राष्ट्र' की इस कौमी अवधारणा में राष्ट्रीयता के बुनियादी सारतत्वों की धनना और धिता, दोनों नदारद हैं।

भारत की सारी अद्वितीयता इस एक आधारभूत अवधारणा में अंतर्निहित रही है कि नाना जातियों, धर्मों, वर्गों और आस्था-विश्वासों के लोग एक ही स्थान पर रह ही नहीं सकते, बल्कि पसा होने पर संस्कृति, वाङ्मय तथा सामाजिक कार्य-कलापों में भी महान अकारणत्मक परिवर्तन घटित हो सकते हैं। अगर कदाचित हम भारत के इतिहास को अग्रजों के चश्मे से नहीं, बल्कि इतिहास के सामाजिक साक्ष्यों के आलोक में देखें, तो वर्णा-जातियाँ और धर्मों के अतर्ल्यन की एक लम्बी परम्परा हमें चकित करेगी जरूर, क्योंकि विभिन्न वर्णों, धर्मों और जातियों के सगम की ऐसी कालजयी अनुगूँज भारत के सिवा किसी अन्य देश में कदापि नहीं मिलेगी। इस विमृगधकारी अनुगूँज को हमारी संस्कृति और वाङ्मय की भांति सुना जा सकता है।

माना कि इस्लाम मजहब के तौर पर भारत के सांस्कृतिक वितान का अगल कभी नहीं बन पाया, लेकिन सामाजिक कार्य-कलापों की साझेदारी ने फिर भी अपने रंग दिखाये जरूर और इससे जहाँ दर्शन के क्षेत्र में ऐसे सूफियों का उदय हुआ, जिनकी सोंम से भारत की मिट्टी की महक पूछती जान पड़ती है, वहीं साहित्य और संगीत के क्षेत्र में भी एक ऐसा अपूर्व चमत्कार घटित हुआ कि अगर नाम मौजूद नहीं, तो पहचानना असम्भव कि कौन-सा स्वर हिन्दू ने गा दिया और कौन-सा मुसलमान का है। कौन-सा शब्द हिन्दू ने कहा दिया, कौन-सा मुसलमान ने। अरबी-फारसी ने हजार वर्षों में उतना बड़ा शायर एक भी नहीं दिया, जितने बड़े कि दसिहों-दीसिहों उर्दू की सिर्फ तीन सदियों में मिल जायें। बाहर से आने वालों को भी खुद की अतरात्मा के सीमातों तक घले आन का न्योता अगर किसी देश ने दिया है, तो भारत ने- और अफसास कि हिन्दू जाति की सरक्षा के सबसे बड़े दावेदार रा० स्व० सघ के पास भारत की यह 'वसुधैवकुटुम्बक' की सरहदों का छूने वाली अवधारणा ही अनुपस्थित है। कारण समाज की जगह सम्प्रदाय, राष्ट्र की जगह कौम और संस्कृति की जगह धार्मिक कट्टरता को प्रथम स्थान देना है, क्योंकि वह काम ज्यादा आसान है।

देश का दुर्भाग्य कि औपनिवेशिक राज्य व्यवस्था ने राष्ट्र की सकल्पना और अवधारणाओं से पूरी तरह शून्य लोगों को केन्द्र में स्थापित कर दिया है। पाँचगाम में यह

कि आज देश की अखण्डता का एकमात्र आधार सिर्फ सैन्यबल रह गया है। राष्ट्रीयता के सांस्कृतिक तथा सामाजिक आधारों का औपनिवेशिक राजनीति के विरासतदारों ने खतरे के निशान तक नस्त-नाबूद कर डाला है, इसलिए हिन्दू-मुसलमान साम्प्रदायिकता के सवाल को अब सिर्फ 'रामजन्मभूमि बनाम बाबरी मस्जिद' के दायरे में देखने में बचना जरूरी होगा, क्योंकि यदि इस समस्या का हल राजनीति में से निकला, तो फिर चाहे और जो-कुछ भी हो, हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता का हल तो यह कदापि नहीं हो सकेगा। हिन्दू-मुसलमान के बीच का कोई भी सकारात्मक हल हिन्दू-मुसलमान मिलकर ही खोज सकते हैं।

हमें भूलना नहीं चाहिये कि भारत की मौजूदा राजनीति में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के चकत्ते अभी भी मौजूद हैं और ये देश की आत्मा का नासूर बन चुके हैं। इस राष्ट्रघाती राजनीति से हमारा काफी साबका हिन्दू-सिख समस्या के हल के काग्रेसी नुस्खों के दौर में पड़ चुका है। ऐसे में, यह जो हिन्दुओं में मुसलमान और मुसलमानों में हिन्दुओं के प्रति नफरत पकाने का लगभग वही सिलसिला हमारे देखते-देखते आकार लेता जा रहा है, इसको अगर बहुत सावधानी से नहीं देखा-समझा गया, तो फिर हाथ मलने से मैल के सिवा और कुछ मिलना कठिन ही होगा। इसलिए, सम्प्रदायिकताविरोधी सम्मेलनों-यात्राओं की झड़ी लगाने से पहले, देखना जरूरी होगा कि कहीं हम ऐसा करके साम्प्रदायिकता की आँच में खुद की खिचड़ी राँधने की अभ्यासी राजनीति का पजा तो मजबूत नहीं कर रहे।

यहाँ अब फिर प्रारम्भ पर आते हुए, डॉ० पुरुषोत्तम से यह निवेदन करना ही होगा कि एकतरफा हाका दूसरी तरफ और ज्यादा खुन्नस पैदा करेगा जरूर। यानी 'कण कण में व्यापे हैं राम, मत भड़काओ दगा लेकर उनका नाम' से तब यह ध्वनि निकलेगी जरूर कि दगों की शुरुआत की तोहमत सीधे-सीधे राम का नाम लेने वालों, अर्थात् हिन्दुओं, पर थोपी जा रही है, अन्यथा डॉ० पुरुषोत्तम अग्रवाल, इसके साथ-साथ, कुछ इस तरह के पोस्टर भी तैयार कराते जरूर कि-

जर्र-जर्र मैं है खुदा का जलवा-
मत करा खुदा के नाम पर कोई बनवा ।'

क्योंकि जिस तरह हिन्दुओं के लिये राम कण-कण में, मुसलमानों के लिये भी खुदा जर्रे-जर्रे में व्याप्त होगा जरूर। अब यह बात दीगर कि न कठपथी हिन्दुओं को कण-कण में पूरी पृथिवी होगी और न कठमजहबी मुसलमानों को जर्र-जर्रे में पूरी कायनात।

हालांकि इस प्रकार की मौसमी पोस्टरबाजियाँ हिन्दू-मुस्लिम समस्या के बुनियादी कारणों में जाने की जगह, अवसरवादी सैद्धांतिकता के सतही बुदबुदों पर टिकी होती हैं, और साम्प्रदायिक तकरार की दरारों को पाटने में इनकी दूरगामी सकारात्मक भूमिका होती नहीं, लेकिन अगर इनका स्वरूप कबीर के राम-रहीम के बीच की समरसता का

होता, तो कम-से-कम एक साम्प्रदायिक सौमनस्य की चिंता इनमें देखी जा सकती थी। इतना ही नहीं, इन तथाकथित 'साम्प्रदायिक विरोधी' सम्मेलनों में सामाजिक सकल्प और जुझारूपन का भी अकाल ही दिखाई पड़ेगा। साम्प्रदायिक दंगों के समय ये नपथ्य में चले जाते हैं और फिर धीरे-धीरे, वर्षाकाल के उद्गाताओं की भांति, राज्यव्यवस्था के साये में राहतकार्यों का सबाब लूटने निकल पड़ते हैं, क्योंकि इन्हें जाखिम नहीं उठाने, सिर्फ हवा बनानी है।

इन 'साम्प्रदायिक विरोधी' सम्मेलनों का उद्देश्य अगर वास्तव में हिन्दू-मुस्लिम या हिन्दू-सिख तकरारों को राकना होता, तो ये अपना रुख सबसे पहले राज्यव्यवस्था की ओर करते, जिसे कि कभी सिख और कभी मुसलमानों के कल्लेआम में हाथ बँटाते रंगे हाथों पकड़ा जा चुका है। जिससे मिले अभयदान की आड़ में ही खूनी दस्ते सरे-आम लूट-मार मचाते रहते हैं, क्योंकि अगर राज्यव्यवस्था से शह नहीं मिले, तो साम्प्रदायिक दंगे जगल की आग नहीं बन सकते।

सारी साम्प्रदायिक खूँरजियों के बेतार-के-तार अतत राज्यव्यवस्था तक जाते हैं, क्योंकि बिना इस इतमीनान के साम्प्रदायिक गुण्डे अपना काम कर ही नहीं सकते कि उनका कुछ नहीं बिगड़ना। दंगों को रोकना राज्य की जिम्मेदारी है, साम्प्रदायिकताविरोधी सम्मेलनों की नहीं। इस जिम्मेदारी को खुद के हाथों में लेना कहीं-न-कहीं राज्यव्यवस्था का सीधी जवाबदेहियों से बचाना भी है। जबकि जो सरकार साम्प्रदायिक दंगों की रोक-थाम नहीं कर सके, उससे तुरत त्यागपत्र माँगा जाना चाहिये, क्योंकि राज्य का चरित्र साम्प्रदायिक होने पर ही साम्प्रदायिक शक्तियाँ को भी बढ़ावा मिलता है।

स्वामी स्वरूपानन्द जी की गिरफ्तारी से भी यही सिद्ध होता है कि अगर छूट नहीं दें, तो साम्प्रदायिकता भडकाने के सारे मनमूबे धरे रह जाएंगे। धार्मिक कठमुल्लेपन को कानून से ऊपर नहीं आने देने की जिम्मेदारी हरहाल में राज्य की है और 'साम्प्रदायिक विरोधी' सगठनों का पहला काम सरकार पर यह नैतिक तथा सामाजिक दबाव बनाना ही होना चाहिये कि वह धर्म को कानून से ऊपर नहीं आने दे। लेकिन कितने आश्चर्य की बात है कि इन 'साम्प्रदायिक विरोधी' सगठनों के सिद्धांतकारों ने न कभी अल्पसंख्यकों की राजनीति के खतरनाक खेल के विरुद्ध राजनैतिक दलों का घेराव किया, न संविधान में धार्मिक विभेद-विवाजों को कानून की शक्ल दिये जाने पर आपत्ति उठाई और न ही कभी समाज को धर्मनिरपेक्षता की आड़ में धार्मिक बोट-बैंकों के स्थापित किये जा रहे होने के राष्ट्रघाती पड़्यत्रा के दुष्परिणामों की कोई घतावनी दी।

साम्प्रदायिक दंगे धार्मिक नहीं, कानूनी मामले होते हैं और इन्हें कानून की जगह पोस्टर-सम्मेलनों-पदयात्राओं से हल करने की पहल करना, कहीं-न-कहीं राज्यव्यवस्था के हाथों खेलना है। कानून के राज्य में धर्म को कानून से ऊपर नहीं आने देना राज्य की जिम्मेदारी है। राज्य को इस जिम्मेदारी में मुँह घुराने की छूट देना ठीक नहीं।

कहा जा सकता है कि राम जन्मभूमि-बाबरी मस्जिद के मामले में इन

समाज का जोर न्यायालयों के फैसले पर था। लेकिन पहली बात यह कि कानून दमोदरपन की चीज नहीं है। दूसरी बात यह कि कानून का सम्मान करना ही धर्म है। समाज की राज्यव्यवस्था से पिछा मत मानो। धर्म ही है। चूँकि सरकारी रुख न्यायालय के फैसले पर जोर देने का है, इसलिए हमें धर्म के गर्दने भी न्यायालय के परकाटे की दिशा में ही दिनाग्नी देनी है। जबकि कि १९५० तक जायदाद ही बनता है कि दाँत ठीक से नहीं चाले तो न्याय अंगण है।

राम जन्मभूमि बनाय बाबरी मस्जिद मामले में सरकार का गिरेबात पहल इस विचार के साथ पकटना जरूरी होगा कि क्या 'गारण्टी' है इस बात की कि राजनैतिक दबावों में आकर उसका रुख कैसे होगा ही नहीं होगा, जो कि शाहबानो मामले में प्रकट हुआ? जो सरकार शाहबानो मामले में सर्वोच्च न्यायालय के फैसले को कुट काट करी में फेंक, और संसद में सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के तमाला करवा सकती है, वह ठीक यही नजारा बहुमुखी दृष्टि से दबावों में रामजन्मभूमि बनाय बाबरी मस्जिद मामले में भी उपस्थित नहीं करगी, इसकी क्या गारण्टी होगी? तब किसी भी मुकाम पर सरकार कानून में दखल नहीं देगी, पहल यह बात पक्की करनी है बाद में, हिन्दुओं के द्वारा न्यायालय के फैसले को भ्रान्त किये जाने को दलील दी जाय जायदे। और अगर इस बात पर सतमृदु पूर्ण जोर दिनाग्नी जाना हो कि चूँकि देश में कानून का राज्य है और कानून से ऊपर कोई नहीं, इसलिए हिन्दुओं का न्यायालय का फैसला मानना ही होगा, तो जवाब दिया जाना चाहिये इस बात का भी कि क्या कानून का राज्य का ठेका सिर्फ हिन्दुओं ने ही ले रखा है?

अगर शाहबानो मामले में मुसलमानों के रक्त आसों से देश को धोखा दिया जाता, तो आज हिन्दुओं पर यह नबात बिलकुल डाला जा सकता था कि 'कानून' का सम्मान करना ही धर्म है। कानून के आगे धर्मार्थ में धर्म है। पहल ने कानून को धर्म से ऊपर ला दिया होता और तब जहाँ हिन्दू धर्म में धर्म का तत्त्व, उन पर धार्मिक कट्टरता का फैलाने में ऊपर जाने के लिए राज्यीय तत्त्वों की व्यवस्था जा सकता था। यह नैतिक दबाव डाला जा सकता था कि बहुमुखी दृष्टि से कानून को सम्मान देने की सबसे गहरी जिम्मेदारी हम पर है, क्योंकि कानून का सरल दृष्टि पर ही साम्प्रदायिक का भूत नाश होना ही चाहता है।

कानून साम्प्रदायिकता का धरातल तब तक नहीं हो सकता जब तक कि धर्म, न्याय और ग्रंथियाँ, मुल्लाना या साम्प्रदायिक राजनीति के तत्त्वों को - सरकार का दह दौड़क रखे। सामने आते ही साम्प्रदायिक शासकों के लोभ में दह दौड़क जाय। लेकिन अफसोस कि, विपक्षी राजनैतिक दल को भाति हैल तब तक कि समाजों का जोर भी राज्य के साम्प्रदायिक धर्म पर पूर्ण रूप से रहने में ही है। जबकि अगर राज्यव्यवस्था का चरित्र या ही साम्प्रदायिक बना रहता है, और सरकार सती है धर्म, जाति तथा वर्ण के आधार पर धर्म की राजनीति का संवैधानिक मान्यता, तो साम्प्रदायिक तकरारों और दंगा का कर्तापि नहीं सका जा सकता, क्योंकि धर्म की

गठन से ठहरा और उसे एक प्रभावी नैतिक चुनौती दे सक, ऐसा कोई सामाजिक संगठन जानता अस्तित्व में है ही नहीं।

१९४७ के बाद, भारत की औपनिवेशिक राज्यव्यवस्था ने पहला बड़ा किसी ऐसे सामाजिक संगठन की सम्भावना तक को ध्वस्त कर देने का हो किया, जो राज्य के सामने कोई नैतिक चुनौती खड़ी कर सक। गांधी का ठहरना इसी हादसे का सबूत है। 'इन्दिरा इज इण्डिया एण्ड इण्डिया इज इन्दिरा' का नारा इसी सिलसिले की देन था, जो गांधी के विद्रोह करने के लिये गढ़ा गया था कि श्रीमती गांधी या राजीवगांधी जो-कुछ करेगा वह प्रचुरातः से, खुद इण्डिया यानी भारतवर्ष का हा किया हुआ होगा।

लोकतांत्रिक लम्बाई में राज्य की निरंकुशता के प्रक्षेपण के संवैधानिक छोर- दरवाजों के कारण ही गांधीतन्त्रित, 'लुन्ग्टार ऑपरेशन' और नवम्बर १९८४ के राष्ट्रघाती हादसों के जारी पल्लभूमि तैयार हुई और अगर अब भी यही सिलसिला बना रहता है, तो ये सारा सामंजस्य सम्मेलन सिर्फ तमाशे बनकर रह जायेगा और इनका सांग-सुद में साम्प्रदायिकता को भड़काने का एक और पल्लभ रह जायेगा, क्योंकि 'सिर्फ बहुसंख्यकों की साम्प्रदायिकता ही गहराई में जायेगी'। यह तुष्टिकारी गिद्धा। अतः अल्पसंख्यकों की साम्प्रदायिकता पर आसपास का दिशाई पड़ेगा। य जिस शहर जिस माहल्ले और जिस गली में अपने तन्बू लगाये, अतः अन्तरफापन हिन्दू साम्प्रदायिक भावनाओं के हाथ मजबूत करने के लिये और धुन करेगा नहीं।

अगर हमें दरुआ का तर्क हा कि हमने हिन्दूओं का भयानक दंगे की इतना धन लेने की पर्याप्त हानि धारित कि ये हिन्दूविरोधी नहीं, बल्कि बदलाव लायेगा कि किन हिन्दूओं का ? जिन हिन्दू बुद्धिजीवियों की व्यापक हिन्दू समाज के लिये नहीं, और जिनका सारा धर्म राम का नाम लेना था। इस भड़कान का पहला जिम्मेदार ठहराने के अन्तरफापन पर टिका हो, हिन्दू-बुद्धिवादी साम्प्रदायिकता की समस्याओं को हल करने में उनकी भूमिका कितनी प्रभावी या प्राथमिक हो सकती, इस अनुमान के लिये इतना ही जान लेना काफी होगा कि इनकी अब तक की सम्प्रदायिकता क्या साबित कर रही है।

अल्पसंख्यकों के भय का तर्क उपस्थित करने में ध्यान रखना जरूरी होगा कि भारत में मुस्लिम समुदाय के भय का कारण उसका अल्पसंख्यक नहीं, बल्कि बहुसंख्यक होना है। पूरे विश्व में मुस्लिमों के एक काम हानि के कारण न झुटी ही नहीं, लेकिन मुस्लिमों की एक वैश्विक समुदाय की छवि उकरी जा रही है। खामती पर ईरान में खुमैनी के इस्लामी जहाद के बाद। जिस आज हिन्दू पुनरुत्थानवाद का लहर कहकर लाली में आप की तरह लपटकर दिखाना चाहत है या ० वि० संगठन इसका वास्तविक जड़ इस्लामी वैश्विकता के उम्र खाक से भा गया है। जिसमें मजहब की संस्कृति देश की संस्कृति में ऊपर धारित की गई है।

खुले शब्दों में कहें, तो जिसका मतलब सीधे-सीधे यही निकलता, या निकाला जाता, है कि मुस्लिम समुदाय देश की सरहदों तक सीमित नहीं। और चूँकि उसका सकट दरअसल इस्लाम का सकट है, इसलिये विश्व के किसी भी कोने में पैसा होने पर शेष मार मुस्लिम देश उसे नैतिक, आर्थिक और राजनैतिक खुराक पहुँचाएँगे जरूर।

ऐन दाये-बाये ~~दुनियाँ~~ से घिरे हिन्दू समुदाय का सारा डर मुस्लिम समुदाय की इसी वैश्विक वृहदता से जुड़ा है। बिल्कुल सम्भव है कि यह एक शुद्ध काल्पनिक डर और रा0 स्व0 संघ-जैसे कट्टरपथी हिन्दू सम्प्रदायों के द्वारा बहुत ही घालाकी और कुटिलता के साथ खड़ा किया गया झूठा होवा- मात्र हो, लेकिन यह कैसे तय होगा कि काल्पनिक डर को डर नहीं माना जा सकता? बल्कि किन्हीं अर्थों में काल्पनिक डर वास्तविक डर से भी खतरनाक होता है, क्योंकि यह धिस्त को जकड़ लेता है और धिस्त में पैठा डर ही सबसे नाजुक डर होता है। इसलिये ~~संगठनों~~ संगठनों की इस मामले में एक अत्यन्त ही प्रभावी भूमिका हो सकती है कि वो मुस्लिम वृहदता के भारत के अन्य समुदायों के लिये कहीं से भी और कतई खतरनाक नहीं होने के ऐसे प्रामाणिक तर्क उपस्थित करें, जिससे कि मुस्लिम वृहदता के अंतर्राष्ट्रीय खाकों के बारे में सिद्ध किया जा सके कि इसकी सरहद गैरइस्लामी मुल्कों के सामुदायिक समीकरणों में दरार डालने की हदा तक नहीं जा सकती।

आज जो रा0 स्व0 संघ या शिवसेना- जैसे कट्टरपथी हिन्दू संगठन हिन्दू समुदाय को अपनी एक अपरिहार्य जरूरत दिखाई पड़ने लगे हैं, इसका मूल कारण इस्लामी वैश्विकता की वह अवधारणा ही है, जो बेनजीर भुट्टो को तक यह दावा करने का धार्मिक-राजनैतिक आधार दे रही है कि मुसलमानों की फिक्र पाकिस्तान का फर्ज है।

आदमी की जगह उसकी नस्ल, जाति या मजहब को केन्द्र में रखकर चलने की राजनीति के बीच धर्मनिरपेक्षता का द्वीप बसाने की कुछ बुनियादी शर्तें हागी और इन शर्तों से मुँह चुराने वाले धर्मनिरपेक्षता का धधा चाहे जितना कर लें, वास्तिक धर्मनिरपेक्ष राज्य को आकार देना इनके वश की बात नहीं, क्योंकि धर्मनिरपेक्ष राज्य की पहली शर्त मजहबी-धार्मिक रीति-रिवाजों को कानून की शक्ल देने से इकार होगा।

मुस्लिम वैश्विकता सिर्फ एक होवा भी हो, तो इसको ~~होवा~~ साबित करना जरूरी होगा, क्योंकि इसे लोगो के भीतर तक उतार दिया गया है।

भारत का अकेला हिन्दूबहुल देश होना कोरा भावनात्मक नहीं, बल्कि एक भौगोलिक, सामाजिक तथा राजनैतिक तथ्य है। इसका एक कारण दूसरों के बलात् धर्मांतरण अथवा धर्म को दूसरे देशों पर कब्जा करने का नैतिक आधार बनाने की हिन्दू चिंतन में कोई व्यवस्था नहीं होना भी हो सकता है। दूसरा देश का भूगोल ही नहीं, बल्कि ससाधनो में विशाल और तीसरा हिन्दुओं का समरभीरु-कायर-आलसी होना भी। लेकिन आज की स्थिति भिन्न है। अपनी राजनैतिक उदासीनता और जातीय विघटन का एक लम्बा इतिहास आईने की तरह सामने मौजूद होने से जातीय पुनरुत्थानवाद आज हिन्दुओं की सामुदायिक जरूरत बन गया है। इस्लामी वृहदता का हिन्दुओं के इस सामुदायिक डर से

कोई दूर का भी वास्ता क्यों नहीं होना चाहिये, इसकी तार्किक विवेचना के बिना हिन्दुओं में बढ़ती साम्प्रदायिकता का निदान नहीं ही खोजा जा सकेगा, क्योंकि सामुदायिक डर ही लोगों को साम्प्रदायिक कट्टरपथियों के निकट ले जाता है।

इस प्रकार हिन्दू-मुसलमान, दोनों का डर एक-दूसरे के बहुसंख्यक होने के अभिज्ञान की उपज है। मुस्लिम समुदाय के अल्पसंख्यक होने का तर्क देने, और इस तर्क से उन्हें बहुसंख्यक हिन्दुओं से खतरा बताने वालों को भूलना नहीं चाहिये कि भारत में वास्तविक अल्पसंख्यक पारसी और ईसाई समुदाय हैं और इन्हें हिन्दुओं से या हिन्दुओं को इनसे कोई ऐसा डर नहीं, जो खतरे के निशान से ऊपर आता दिखाई पड़ रहा हो। सिखों के भी अल्पसंख्यक होने की बात में कोई वजन नहीं, क्योंकि 'खालिस्तान' का तर्क अल्पसंख्यक होने का तर्क नहीं है।

ऐसा नहीं कि हिन्दू धर्म की बौद्ध या जैन धर्मों से टकराहटों की सरहदें धार्मिक उन्माद की परिधियों तक न गई हों, लेकिन टकराहटें धर्म के हिसाब से मुल्क के कौमी जेमाद के तर्क तक कभी नहीं पहुंची। दूसरे, 'फासिज्म' एक राजनैतिक 'फेनोमिना' के तौर पर भारत में अपनी जड़ें ज्यादा गहरी कभी नहीं कर पाया, क्योंकि 'सिर्फ हम ही सही हैं' का वहशीपन सकल हिन्दू समाज का सत्य कभी नहीं बन पाया। इसका श्रेय हिन्दुओं की जगह भारत की मिट्टी या कि यहाँ कि परम्परागत बनावट को देने में कुछ हर्ज नहीं, लेकिन इस चाक्षुस सत्य को सिर्फ हिन्दू-विरोध के उत्साह में ओझल करने का यह एक स्वाभाविक परिणाम होगा कि हिन्दुओं की सामाजिक, धार्मिक और वैचारिक बनावट के उन बुनियादी सारतत्वों पर से ही हमारी आँख हट जायेगी, जिसने, मारामारी के बीच ही सही, लेकिन अतत हिन्दू-मुसलमानों के एक सहस्राब्दी तक के साझे को सम्भव बनाया, जबकि इस्लाम की एकमुखता में सामुदायिक समरसता की सरहदें सीमित हो जाती हैं।

हिन्दू साम्प्रदायिकता के आज के ढाँचे का सबसे खतरनाक पक्ष यही है कि इसमें 'फासिज्म' के तत्त्व आकार लेने लगे हैं। इसका एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। लगातार के दगा के बाद मेरठ में कई बड़े चौराहों में यातायात पुलिस के खड़े रहने की जगहों पर, राम, शिव और हनुमान की विशाल मूर्तियाँ स्थापित कर दी गई हैं। धर्म को चौराहों पर उतार लाने का यह सिलसिला साम्प्रदायिक बर्बरता के उदय का सबूत है और इसे यही नहीं रोकना, स्वयं हिन्दू समाज के लिये आत्मघाती सिद्ध होगा, क्योंकि 'फासिज्म' के विपैले कीटाणु आगे चलकर खुद अपन देश और समाज के लिये कितने खतरनाक सिद्ध होते हैं, इसकी गवाही में फ्यूहरर हिटलर का अवतार इतिहास में मौजूद मिलेगा।

यातायात पुलिस के खड़े होने की जगह पर आराध्य अवतार पुरुषों की मूर्तियों की स्थापना धार्मिक अवधारणा में साम्प्रदायिक शक्ति-प्रदर्शन के समावेश की खुली कारस्तानी है और आश्चर्य कि धर्मनिरपेक्षता की घुट्टी में पली हुई भारत सरकार को इसमें कहीं कोई आपत्ति कतई नहीं। जबकि कानून के राज्य के तर्क से इन मूर्तियाँ को हरहाल में सड़कों पर से हटा दिया जाना चाहिय था और हटा दिया जाना चाहिये। क्योंकि अगर

हिन्दुओं को चौराहों पर यातायात पुलिस की जगह धार्मिक मूर्तियाँ का स्थापित करने को छूट हो सकती है, तो अन्य धर्मावलम्बीयों का अपना-अपना धार्मिक केंद्र बनाने की क्या नहीं हो सके और अगर वह छूट मुसलमानों को नहीं हो सकती, तो क्या न मानें। यहाँ कि धर्मनिरपेक्षता के आड में हिन्दुवाद की जड़ पुरखी करके मजबूत करने का शास्त्रिक ढंग हालाँकि सरकार का जवाब यह भी हो सकता है कि उसने दंगल में मजबूत बनाने की आजादी भी दे रखी है।

ताज्जुब कि आठ वि० सम्मेलनों के सूत्रधारों को भी धर्म के इस मङ्कीकरण से कुछ नहीं बना देना। जबकि धर्म के मङ्कीकरण के बाद अराजक प्रवृत्ति रामजन्मभूमि से कहीं ज्यादा खतरनाक मामला है, क्योंकि कदाचित् रामजन्मभूमि में हिन्दुओं के मनचाहे स्थान पर राम का मन्दिर बन जाता है तो भी इसमें मुसलमानों पर कोई कहर नहीं टूट पड़ेगा, लेकिन धर्म का यह मङ्कीकरण उनके अपने रास्ता पर भी दबाव डालेगा जरूर।

बहुमुखी होने अल्पमुखी का उगन का निमित्त बन जाय तो मान लिया जाना चाहिये कि यह गुण्डई के लिए कुछ नहीं। आदमी का दूसरे का आत्मा होना जरूरी है। बर्बरता अलग भेद तो भी खाती है। मनुष्यता के चिह्न गायब होने लगें, तो इस खुशफहमी में रहना ठीक नहीं कि मर्यादा काफी है। व्यक्ति हो कि समुदाय, दूसरों का डगवना होना ठीक नहीं क्योंकि डगवना नहीं है, जिसमें गंशनी खत्म हो चुकी हो।

अथवा स्पष्टान्त अगर आदमी का उजाला नहीं, तो खतरनाक अधाकुप्प है। लेकिन इस बात पर फिर जोर देना जरूरी होगा कि साम्प्रदायिकता के मवालों को इनके पूरे परिप्रक्षेत्र में देखना होगा। तब हम उस अतीत की आर झौंकना भी जरूरी होगा, जबकि देश विशाल था और इसीलिए यहाँ के वासियों के हृदय भी। बाहर से आने वालों को मार भगाने की जगह, 'आओ, तुम भी रहो, आओ, तुम भी रहो,' की उदात्तता के पीछे देश का विशाल होना ही सबसे मुख्य कारण था, क्योंकि तब लोगों को यही लगना होगा कि खालीपन दूर होगा और देश रंगारंग बनगा। देश का नक्शा छाटा होत जान पर हिन्दुओं का अधिक सवदनशील होत जाना निश्चित है, क्योंकि उनके पास धर्म के हिसाब से देश जुटाने का तर्क नहीं है।

आदमी समय और स्थान से सम्पृक्त है। देश, काल और मनुष्य, ये तीनों एक ही तथ्य के विभिन्न अंग हैं। इनमें से प्रत्येक को एक-दूसरे के साक्ष्य में ही देखा जा सकता है। 'जैसा देश, वैसा भेष' कोई मामूली मुहावरा नहीं। यह इस बात की चेतावनी देता है कि भेष का देश के विरुद्ध होना ठीक नहीं।

भेष से सिर्फ कपड़-लत्ते और आभूषण ही नहीं, आदमी के अन्य मारे कार्यकलाप भी जुड़े हैं। धर्म-कर्म भी। कुछ भी देश-काल की गरहदा में ही सम्भव है। इसलिये कमीटी धर्म नहीं देश को करना जरूरी होगा। अगर आदमी का चित्त देश से जुड़ा है, तो इसमें कोई फर्क नहीं पड़ना कि उसका ऊपर बना क्या है क्योंकि चित्त की दगर ही सबसे

बड़ी दरार हाती है। जब, जहाँ से और जिसके भी द्वारा देश के टुकड़ों की बात उठेगी, उठाई भले ही चन्द राष्ट्रद्रोही तत्वों के द्वारा जाय, मगर जहाँ पकड़ेगी लोगों के चित्त में दरार होने पर ही। और अगर यह माग अल्पसंख्यकों के बीच से उठे, तो बहुसंख्यक भी एक-न-एक दिन खुद का ताम-झाम सँभालने पर कम्पर कसँगे जरूर और तब मुस्लिम राष्ट्रवाद के थपेड़ों को ओझल करके, सिर्फ हिन्दू राष्ट्रवाद पर हाथ-तौबा मचाने के दोमूँहपन से साम्प्रदायिकता की आग दबेगी नहीं, क्योंकि आग को हर तरफ से बुझाना जरूरी है, सिर्फ एक तरफ से नहीं।

हिन्दू-मुस्लिम तकरारों के मामले में इस बात को भी ध्यान में रखना जरूरी होगा कि हिन्दुओं में साम्प्रदायिकता की सुगबुगाहट मजहब के हिसाब से मुल्क के मुस्लिम लीगी सिद्धान्त के आकार लेने के बाद ही बढ़नी शुरू हुई। 'खालिस्तान' की माँग ने इसे और भड़काया। मजहब को मुल्क से ऊपर मानने के इमामी नारे अभी भी बदस्तूर कायम हैं। कश्मीर में देश को सिर की तरफ से काटे-छाटे जाने की मुहिम चला रखी है। ऐसे में इतना तय है कि मजहब, पंथ या धर्म के नाम पर देश का नक्शा छोटा करने के ये सिलसिले जितने बढ़ते जाएंगे, हिन्दू साम्प्रदायिकता भी उतनी ही और बढ़ेगी जरूर, क्योंकि एक-न-एक दिन भारतीय संस्कृति का ठेका सिर्फ हिन्दुओं के सिर पर थोपते चलने के इस सिलसिले का राजनैतिक तर्क भी सवालों के घेरे में आयेगा जरूर।

इन सारी बातों का निचोड़ यह कदापि नहीं कि हिन्दू साम्प्रदायिकता देश की जरूरत है। जैसा कि पहले ही कहा, हिन्दू साम्प्रदायिकता का राष्ट्र की जगह कौम की सकीर्ण अवधारणाओं की ओर बढ़ाव भारत की सामाजिक संस्कृति के लिये खतरनाक ही सिद्ध हो सकता है और इस प्रकार पूर्वजों की शताब्दियों-सहस्राब्दियों की कमाई मिट्टी में मिलते देर नहीं लगनी। लेकिन अगर देश के धार्मिक आधारों पर विभाजन की प्रवृत्तियों पर प्रभावी तथा दूरगामी अकुश नहीं लगाया गया, तो 'हिन्दू राष्ट्र' की स्थापना के दुःस्वप्न को भी टालना कठिन ही होगा, और अल्पसंख्यकों की साम्प्रदायिकता को नैतिक आधार देने की सारी खुशफहमियों का अपरिहार्य प्रतिफलन अतः बहुसंख्यकों की साम्प्रदायिकता की जड़ों को मजबूत करने में ही होगा, क्योंकि किसी भी कार्य की नैतिकता या अनैतिकता का निर्धारण संख्या के हिसाब से नहीं किया जा सकता।

साम्प्रदायिकता अपने-आप में ही एक जहर है और यह अगर एक में हो, तो अनेकों तक फैलेगा जरूर। इसलिये जरूरत साम्प्रदायिकता की चौतरफा रोक-थाम की होगी। विषधारा को उद्गम से लेकर मुहानो तक देखना और साम्प्रदायिकताविरोधी जुलूसों का रुख, कहीं और की जगह सीधे उस राज्यव्यवस्था की ओर करना होगा, जो खुद के पापों का घड़ा दूसरों के सिर पर फोड़ने की कूटनीति खेलती चली आ रही है। अगर साम्प्रदायिकताविरोधी संगठन यह काम नहीं करते हैं, तो जाहिर है कि ये लोगो का ध्यान राज्य के साम्प्रदायिक चरित्र की ओर से हटाने का काम ही कर रहे होंगे।

जैसा कि पहले भी कहा, साम्प्रदायिकता के मामले में भारत सरकार और तथाकथित

साम्प्रदायिकताविरोधी सम्मेलन का रुख एक होना यों ही टाल देने की बात नहीं, क्योंकि साम्प्रदायिकता के मूल आधारों पर चोट करने से बचने की यह मिलीभगत ही हिन्दू साम्प्रदायिकता के मुहानों को भी चौड़ा कर रही है।

रामजन्मभूमि का मसला कोई ऐसा मसला नहीं था, जिसे कि मुसलमानों के अस्तित्व का सवाल बना दिया जाय। मुसलमानों का बाबर से ठीक वही सम्बन्ध नहीं, जो कि हिन्दुओं का राम से है। राम की परिधियाँ हिन्दू मानस से महाकाव्यात्मक स्मृति और सवेदना के छोरों तक जुड़ी हुई हैं और सामाजिक साझेदारी का तर्क यही बनता है कि कहा किसका सम्बन्ध कितनी दूर तक गया है।

बाबरी मस्जिद हजरत मुहम्मद साहब की दरगाह हुई होती, या मक्का-मदीना-काबा, तो कहा जा सकता था कि मामला बराबरी का है। अगर देश में हिन्दू-मुस्लिम साझा को केन्द्र में रखकर देखा जाय, तो कहना होगा कि यह मुसलमानों के पक्ष से हुई बहुत बड़ी ऐतिहासिक गलती है, जो कि बाबरी मस्जिद को मुस्लिम और इस्लाम के अस्तित्व का सवाल बना लिया गया। इससे इतना तो स्पष्ट हो गया कि हिन्दुओं की आस्था और सवेदना के सवालों से मुसलमानों का कुछ लेना- देना नहीं। उन्हें शक्ति-प्रदर्शन ज्यादा जरूरी है।

इस तर्क में क्या रखा है कि अगर मुसलमान रामजन्मभूमि, कृष्णजन्मभूमि या काशी विश्वनाथ मन्दिर के मामलों में झुक गये, तो हिन्दू उन पर हमेशा के लिये हावी हो जाएंगे, क्योंकि अगर हिन्दुओं में हावी हो सकने की शक्ति हो, तो ये इन मन्दिरों की आड़ लेकर भी हावी होंगे जरूर। जबकि एक-दूसरे के आस्था-विश्वासों की साझेदारी में हाथ बंटाना घूकना या अपना हक गँवाना नहीं, बल्कि आगे अपने लिये भी जमीन तैयार करना होता है। अगर इन तीन स्थानों पर मुसलमानों की पहल को हिन्दू मुसलमानों के डर गये होने का सबूत मानें, तो हिन्दुओं से ज्यादा मूर्ख और मक्कार कौन होगा ?

कदाचित् मुसलमानों की ओर से यह पहल हो गई होती, तो हिन्दू कट्टरपथियों के हाथ-पाँव फूल गये होते, क्योंकि तब उनके हाथों से न सिर्फ व्यापक हिन्दू समाज की भावनाओं को भडकाने का आधार पूरी तरह खिसक जाता, बल्कि अन्यत्र कहीं किसी मन्दिर-मस्जिद को फिर खुद के निहित स्वार्थों का केन्द्र बनाने के सारे रास्ते ही बन्द हो जाते। हिन्दू-मुस्लिम एके के सामने ठहरने की शक्ति, आज भी, न हिन्दू साम्प्रदायिक सगठनों में हो सकती है और न ही मुस्लिम कट्टरपथियों में। कहने का तात्पर्य कि हिन्दू-मुस्लिम के रास्तों पर खड़ी की जा रही सारी दीवारों को हिन्दू-मुस्लिम साझे से तोड़ना जरूरी है और यह साझा सम्भव होगा, एक-दूसरे के लिये जगह देने की समझदारी में से ही- जड इतिहासवाद की राजनैतिक दलीलों से नहीं।

हिन्दू साम्प्रदायिकता का पार्टी के इगितों के अनुसार विरोध करने में जुटे अनेक हिन्दू बुद्धिजीवियों का राम, अयोध्या या राम मन्दिर का कोई ऐतिहासिक साक्ष्य नहीं हान में खुद की प्रतिभा खपाने का भी कोई सकारात्मक परिणाम कतई नहीं निकलना, क्योंकि एक तो

इतिहास परम्परा से ज्यादा प्रामाणिक कभी नहीं होता- दूसरे, ऐतिहासिक साक्ष्य तो खुद के होने का भी कोई नहीं।

दलील अगर एकतरफा हो, तो इससे कुछ फर्क नहीं पड़ना कि इतिहास से दी गई है, क्योंकि बड़ी चीज इरादा हुआ करता है, इतिहास नहीं। इरादा अगर हिन्दुओं पर यह आरोप लगाने का हो कि वो इतिहास की गवाही से शून्य अधविश्वास के तहत रामनाम का झूठा खेल खेलते चले आये हैं और आज इस खेल ने 'हिन्दू फासिज्म' की शक्ल अख्तियार कर ली है, तो जाहिर है कि यह इरादा ऐतिहासिक चाहे जितना हो, ईमानदारी का सबूत कतई नहीं, क्योंकि इतिहास ने कब कह दिया कि वह सिर्फ हिन्दुओं पर ही लागू होगा ?

दुर्गापूजा के महोत्सवों में मार्क्सवाद की जड़ें तलाशने वाले वामपंथी बुद्धिजीवियों का सारा इतिहासवाद इसीलिये झूठ है कि ये इतिहास को पार्टी की 'गाइड लाइन' के हिसाब से इस्तेमाल करने में प्रतिभा खपाने के अभ्यासी हैं। अगर ये धर्म-मात्र का विरोध करते, तब इनके इतिहासवाद से असहमत हुआ जा सकता था, लेकिन इरादे पर सन्देह की गुजाइश नहीं होती। लेकिन जाहिर है कि राममन्दिर की आड़ में हिन्दूपुनरुत्थानवाद को आकार दिये जा रहे होने की इनकी शिकायत में कोई दम नहीं, क्योंकि ये इतिहास को मानव समाज की स्मृति और सवेदना के विपरीत इस्तेमाल करने की राजनीति को पुख्ता करना चाहते हैं। ये भूल जाते हैं कि समाज के सुलगते सवाल जड़ इतिहासवाद के नुस्खों से हल नहीं हुआ करते हैं।

जहाँ दूसरों की जरूरत और हक ज्यादा हो, वहाँ अपनी ओर से अडगा हर्गिज नहीं डालना- सिवा इसके हिन्दू-मुस्लिम एके का कोई रास्ता नहीं। इतिहासवाद का समाज के सवेदनों के निषेध में इस्तेमाल करनेवाले बुद्धिजीवियों की, इसीलिये, कोई प्रासंगिक भूमिका कभी नहीं बन पाती। इस तरह के जड़-इतिहासवाद का दूसरी तरफ भी कोई अकाल नहीं, जो जामा मस्जिद-कुरुबमीनगर तो क्या, मक्का-मदीना में भी हिन्दू ध्वंसावशेषों को दूढ़ निकालते देर नहीं लगाएंगे, क्योंकि सामाजिकता के आधारभूत सवालों के मामले में इनकी हैसियत भी किताबी कीड़ों से ज्यादा कुछ नहीं। लेकिन कट्टरपंथी हिन्दुओं की धार्मिक लामबन्दी को हिन्दू पुनरुत्थानवाद की श्रेणी में रखने का उन्हें कोई हक नहीं, जो अपनी-अपनी राजनैतिक पार्टियों के लिये मुस्लिम जनाधार की खोज में व्याकुल भटक रहे हों, क्योंकि यह बात अब किताब के खुले पन्ने की तरह सामने है कि अल्पसंख्यकों को खुद का वोट बैंक बनाने की खतरनाक राजनीति ने ही बहुसंख्यकों की साम्प्रदायिकता के तार मजबूत किये हैं।

हमें भूलना नहीं चाहिये कि हिन्दू-मुसलमान के मेल पर ही भारत का भविष्य टिका है और कोई कारण नहीं कि जो पहले हजार वर्षों तक साथ निभा चुके, वो आगे ऐसा नहीं कर सकते। जरूरत धर्म-जाति-वर्ण के हिसाब से खुद की कुर्सियों के पायों को पुख्ता करने की उस कुटिल राजनीति का सवालों के घेरे में करने की है, जो साम्प्रदायिक

फूट-फूटव्वल की आड़ में सत्ता के छीछड़े खोजन वालों को बढ़ावा देती चल रही है। इसकी जगह हिन्दू साम्प्रदायिकता के विरोध में जुलूस निकालने में ज्यादा दिलचस्पी दिखाना हिन्दू और मुसलमान, दोनों में तकरार बनाय रखने की मुहिम चलाना ही है, क्योंकि आज हिन्दू साम्प्रदायिक शक्तियों का रकबा भी काफी बढ चुका है और उम्मीद सामना हिन्दू-विरोध के तर्क से करना ठीक नहीं।

कुछ भी करते में बहुत गहरे ध्यान से यह देखते चलना जरूरी है कि परिणाम क्या निकल रहा है। अगर साम्प्रदायिकताविरोधी संगठनों की मौजूदा मुहिमों से हिन्दू और मुसलमानों के बीच की दरारों को पाटने में सफलता मिल रही हो, तो कहना होगा कि यह सिलसिला जितना आगे बढ़े, उतना अच्छा। लेकिन अगर इससे हिन्दू साम्प्रदायिक शक्तियों को खुराक पहुँच रही हो, तो देखना जरूरी होगा कि ऐसा क्या हो रहा है, क्योंकि साम्प्रदायिकताविरोध की मुहिम को एकतरफ तो हिन्दू जाति, धर्म, परम्परा, संस्कृति और आस्था-विश्वासों के तिरस्कार की हद तक बढ़ाते चले जाना और दूसरी तरफ इस्लाम की बुर्जियों की तरफ आख उठाने से भी परहेज बरतना, इस तर्क से कि अल्पसंख्यकों का चित्त वैसे ही बहुत नाजुक हुआ करता है, यह सरारार एकतरफापन है और जैसा कि पहले भी कहा, एकतरफापन उपाय नहीं।

क्षमा करें, डॉ० पुरुषोत्तम अग्रवाल। उनके राम में रहीम नदारद हैं और बिना रहीम का राम हिन्दू-मुसलमान के बीच की दरारे दूर नहीं कर सकता।

ऐसे में कहने की इजाजत रहे कि 'कण-कण में व्यापे हैं राम, मत भडकाओ दगा लेकर उनका नाम' -जैसे दलगत कवित्त के द्वारा राम के नाम पर दगा नहीं भडकाने का हिदायतनामा, हरहाल में, दगों में हिन्दुओं की पहल हाने के इलजाम की कहानी सुनाता ही दिखाई पड़ेगा, राम की व्याप्ति की नहीं। न ही जन-जन की रामकहानी, क्योंकि कवित्त से समस्या हल करना अलग बात है और समस्या को तुरें लगाना बिल्कुल दूसरी बात।

काश कि साम्प्रदायिकताविरोधी मुहिमे चलाने वाले तथाकथित प्रगतिवादी बुद्धिजीवियों ने देश में सम्प्रदायनिरपेक्ष संविधान लागू किये जाने की माग उठाई होती। हिन्दू-मुसलमान को एक तार में करने वाले सामाजिक स्रोतों की बहस खड़ी की होती। जाहिर है कि साम्प्रदायिकताविरोध की आड़ में साम्प्रदायिकता की पीठ थपथपाने में ही खुद के फायदे देखने के अभ्यासी बुद्धिजीवियों की हिन्दू-मुसलमान एकता में कोई दिलचस्पी नहीं।

राम जन्मभूमि बनाम बाबरी मसजिद

अभी हाल में बदर के द्वारा बिल्लियों के झगड़े में मध्यस्थता की तर्ज पर भारत सरकार ने यह पेशकश की कि राम जन्मभूमि और बाबरी मसजिद के विवाद पर वह अपना पचफैसला प्रस्तुत करने को तैयार है। जाहिर है कि इस नेक काम के लिये हिन्दू-सिख समस्या के विशेषज्ञ केंद्रीय गृहमंत्री बूटा सिंह जी ही आगे रखे गये, लेकिन अफसोस कि बाबरी मस्जिद कमेटी और राम जन्मभूमि मुक्ति समिति- जैसी सांप्रदायिक शक्तियाँ के साथ थोड़ी-बहुत 'पचलैट' घुमाने के बाद, फिलहाल उन्होंने भी मामला न्यायिक प्रक्रिया से निबटाये जाने की बात कहकर, अपना साफा झाड़ लिया।

राम जन्मभूमि और बाबरी मसजिद के मामले में जरूरी होगा कि इसे सतही या शिगूफेबाजी के तौर पर न लिया जाय। इतना ध्यान पहले ही रहे कि इसके तार हिंदू-मुस्लिम शक्ति-प्रदर्शन के मुकाम तक पहुंचाये जा चुके हैं। हा, इतना जरूर है कि अभी यह शक्ति-प्रदर्शन बदरघुडकियों और राजनीतिक-सांप्रदायिक सौदेबाजियों तक ही सीमित है। माना कि अभी यह मजहबी शतरज केंद्र सरकार पर दबाव डालकर, अपनी-अपनी कीमत लगवाने के मुरीदों के बीच का खेल है, लेकिन इतिहास इस बात का साक्षी है कि इस तरह के जहरबाद ही आखिर देश और संस्कृति के विभाजन का कारण बनते हैं। अपनी-अपनी सियासी गोटे पक्की करने की ये खतरनाक चालबाजियां देश की सामान्य जनता के सोच-विचार और संवेदन की दुनिया में धीमे जहर की तरह प्रदूषण उत्पन्न करती जाती हैं और इनका अन्त एक ऐसे विस्फोट में जा कर होता है, जो अगले विध्वंस के बीज बोता उपस्थित हुआ करता है।

पाकिस्तान इसकी मिसाल है।

पाकिस्तान से हिंदू-मुसलमान के बीच के मर्कट-सग्रामों का अंत नहीं हुआ, तो इसीलिये कि उपजाये गये महारोग के निदान नहीं, बल्कि इसकी बिना पर देश और

संस्कृति के बदरबाट के इरादे काम कर रहे थे। राम जन्मभूमि और बाबरी मस्जिद के मामले में यह सावधानी पहले ही जरूरी होगी कि इसे हिंदू-मुस्लिम सांप्रदायिक शक्तियों के हवाले नहीं छोड़ा जाए। यह काम एक लोकतांत्रिक व्यवस्था में केन्द्र सरकार के द्वारा किया जा सकता था, बशर्ते उसका चरित्र स्वयं सांप्रदायिक नहीं हो। यह देश का दुर्भाग्य कि आज के सारे राजनीतिक दलों की नींव सांप्रदायिक शक्ति-समीकरण पर टिकी है। इस मामले में केन्द्र सरकार-द्वारा विपक्षी दलों के आह्वान के पीछे यह कुटिल नीति ही छिपी है कि जैसे हम नागनाथ, तैसे तुम सापनाथ। यानी दोनों को ही अपनी अपनी राजनीति के टिककड़ एक ही आंच में सकेने हैं।

तय है कि मौजूदा राजनीतिक दलों के द्वारा इस समस्या के निदान की कोई पहल कभी नहीं की जायेगी, क्योंकि सांप्रदायिक नाराजगी का जोखिम कोई नहीं मोल लेना चाहेगा। इनमें से एक में भी सच्चाई नहीं। न ही चरित्र नाम की कोई वस्तु है। इनके लिए राष्ट्र, समाज और संस्कृति से बड़ी चीज सत्ता है, जो लूट सके, तो लूट के घोर-दरवाजे खोलती है। दूसरे, जातीय सौमनस्य और एकात्मकता का मतलब होगा, सारे देश में सामाजिकजागृति, जो देशी-विदेशी औपनिवेशिक शक्तियों के बीच के गठबन्धन को ध्वस्त कर देगी। हमें यह भूलना नहीं चाहिए कि राजनैतिक साम्राज्यवाद और औद्योगिक एकाधिपत्यवाद, एक ही सिक्के के दो पहलू हुआ करते हैं और साम्राज्यवाद के चारों पाये टिके होते हैं, सामान्य जनता के बीच की जड़ता, सांप्रदायिक घृणा (जो भय का ही दूसरा नाम है) और सांस्कृतिक उजाड़ पर। भारत में ये तीनों स्थितियाँ बाकायदे और भरपूर विद्यमान हैं और इनके कायम रहते राम जन्मभूमि और बाबरी मस्जिद मामले का कोई सकारात्मक हल असंभव है।

धू-धू पंजाब की हा या राम जन्मभूमि-बाबरी मस्जिद की- सांप्रदायिक नरकाग्निशे के सूत्रधार वे पूजाविेशी और सियासी नेता हैं, जिन्होंने 'फूट डालो और राज करो' का नुस्खा ब्रिटिश हुक्कामों से विरासत में प्राप्त किया। इसलिये इस तरह के किसी भी राष्ट्रीय संकट के समाधान की इनसे आशा करना सिर्फ खुद की मूर्खता और जड़ता का परिचय देना होगा। जिनका अस्तित्व ही जनता के आपसी मत्थाफोड़ और चेतना-उजाड़ पर टिका हो, उनसे यह उम्मीद ठीक नहीं कि ये राम जन्मभूमि-बाबरी मस्जिद मामले में सच्चाई, संवेदना और राष्ट्रहित की दृष्टि से विचार करेंगे। हम नहीं जानते, लेकिन ये बिल्कुल समझे हुए हैं कि राम जन्मभूमि-बाबरी मस्जिद का मुसला देश के दो सबसे बड़े संप्रदायों के बीच के शक्ति-संतुलन का मुसला है। यह भी कि इसे कोई सकारात्मक मोड़ लेने देने का मतलब देश में सांप्रदायिक-धार्मिक संमरसता को बढ़ावा देना होगा, जो कि अंततः फिर स्वाधीनता-संग्राम के दौर के उस सामाजिक-राजनीतिक पुनर्जागरण के रास्ते खोलेगा, जो बीच में ही तोड़ दिये जाने के बावजूद ब्रिटिश साम्राज्य के झड़ों को तो उखाड़ ही गया।

भारत का स्वाधीनता संग्राम कोई सामान्य संग्राम नहीं रहा है। वह भाषा, जाति और संस्कृति के धरातल पर एकमुख होते राष्ट्र-समाज की एक ऐसी तस्वीर सामने रखता है,

जिस अगर मुस्लिम लीगी तथा कांग्रेसी नेताओं के गठजोड़ ने दोफाड़ नहीं कर दिया होता, तो आज भारत की तस्वीर ही कुछ और होती। तब हम ज्ञान-विज्ञान ही नहीं, राजनीति तक में इंग्लैंड, अमेरिका, रूस वगैरह के मोहताज न हो कर, एक ऐसे स्वाधीन राष्ट्र की हैसियत रखते, जिनसे दूसरा को सीखना होता कि बड़ी वस्तु धर्म नहीं, आदमी है। और कि एक मुल्क ऐसा भी है, जहाँ अनेक बार धर्म आदमी और आदमी के बीच में जहर बोने का हथियार नहीं, बल्कि सस्कृति के अनन्य सेतु रच देने की कला का रूप ले चुका है।

हम जार देकर कहना चाहेंगे कि राम जन्मभूमि और बाबरी मसजिद के मामले को हिंदू धर्म या इस्लाम नहीं, बल्कि सस्कृति के तर्क से देखे जाने की जरूरत है। मौजूदा किन्हीं राजनीतिक दल के पास कोई सांस्कृतिक दृष्टि कतई नहीं है। ये धर्म और मजहब की खाज को काढ़ में बदलने का धधा करनेवाले सियासी सौदागरों की जमात है। इनमें सस्कृति की चेतना खोजना भड़ियों की नाभि में कस्तूरी तलाशते फिरने के सिवा और कुछ नहीं। इनकी रुचि राम जन्मभूमि-बाबरी मसजिद दुद को बरकरार रखने में ही हो सकती है। इनमें से किसी में इतनी ताब नहीं कि या तो कोई हल बताये और या साफ कह दे कि फैमला इनके वश की बात नहीं।

कोई भी मामला ऐसा नहीं, जो कानूनी मामला नहीं हो, जिम्मेदार शासन की यह पहली शर्त है कि इसमें जारे मामला को कानून से निबटाने की क्षमता होनी चाहिए, लेकिन भारत सरकार निबटाना भी चाहे, तो ऐसे तमाम मामलों को किन कानूनों के तहत निबटाये, जबकि उसका सारा संवैधानिक ढांचा ही नाना प्रकार के जातिवादी, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक कानूनों पर टिका है और न्यायपालिका का चरित्र भी, अन्य प्रशासनिक संगठनों की ही भांति, भ्रष्ट हो चुका है।

इतिहास में कई बार ऐसे मोड़ भी आते हैं, जब स्थितियाँ कानून की हदों से बाहर निकल चुकी होती हैं और तब वहाँ एक ही तर्क से कोई सकारात्मक परिणाम निकाला जा सकता है- नैसर्गिक न्याय के तर्क से- जिसे हम, प्रकारांतर से, सामाजिक न्याय भी कह सकते हैं, जो कि समाजविरोधी राज्य व्यवस्था की कानूनी हदों के भीतर संभव नहीं।

देश काल और समाज की अतः सगति का ही दूसरा नाम 'सस्कृति' है। किसी देश, काल और समाज की अतः सगति का विपरीत जाना ही सस्कृति का विरूपण या अतिक्रमण। भारतीय सस्कृति का सार है, पृथ्वी और मनुष्य के राग-अनुराग को सबसे ऊपर मानना। आदमी को प्रत्येक वस्तु से ऊपर मानने में धर्म का आड़े आना ही भारतीय सस्कृति का विखंडन है। धर्म ही नहीं, इतिहास के दुराग्रह भी सस्कृति की क्षति करते हैं।

राम जन्मभूमि बनाम बाबरी मसजिद का मौजूदा मामला गड़े मुर्दे को उखाड़ने का मामला कहा जा सकता था। चूँकि इसके साथ हिंदू-मुस्लिम शक्ति-परीक्षण की मुहिम नथी कर दी जा चुकी है इसलिये, तमाशबीनों को यहाँ सासत के सिवा कुछ नहीं मिलना। इस कठिन भूमि में तो सिर्फ उन्हीं के चरण कुछ दूर तक जा सकेंगे, जो मनुष्य और समाज के संवेदनों के सांस्कृतिक स्रोत खोज निकालने में समर्थ हों। जो आदमी को बताने

मे समर्थ हो, कि सांप्रदायिकता की आग नरक की आग से कम खतरनाक नहीं। लेकिन सामने का परिदृश्य क्या है ? कौन और किस तरह के लोग लगे पड़े हैं, राम जन्मभूमि और बाबरी मस्जिद का मामला सुलझान में ?

ये जो 'दोनों तरफ है आग बराबर आग लगी हुई' के मुरीद राजनीतिक-धार्मिक आगसार हैं, इनका काम आग लगाना और उसे कायम रखना है और इसीलिये ये सबसे आगे पहले खुद पहुँच जाते हैं, ताकि भेड़ों की हाक हाथ रहे। कोई बतानेवाला न रहे कि भेड़ियों की भेड़ों की रहनुमाई ठीक नहीं। क्या वजह है कि ऐसे लोगों को इस मामले पर विचार के लिये आगे बुलाने की भारत सरकार ने कोई जरूरत ही नहीं समझी, आज तक, जो मजहब या राजनीति की जगह, संस्कृति की जमीन पर खड़े होकर बात कर सकें। जिनके कि हिंदू या मुसलिम सांप्रदायिकता के साथ कोई निहित स्वार्थ न जुड़े हो। जिनके विचारों से मतभेद हो सकता हो, लेकिन नीयत सदेह से ऊपर।

कारण हम जानते हैं। कारण है यह कि सरकार से ऊपर कोई नहीं है। यानि जिस मामले को सुलझाना जरूरी होगा, हम सुलझायेगे, क्योंकि हमारे पास बहुमत की शासन-प्रणाली का रूक्का मौजूद है, और यह दावा कि देश के धर्म, अर्थ, राजनीतिक, कानून या शिक्षा के मामले में जो भी सर्वोच्च पात्र हो सकते थे, वे सब हमारे दरबार में मौजूद हैं। हमारी समझ ही सबसे सही समझ का उच्चतम प्रतिमान है। हमारा नेता सर्वप्रभुत्वसम्पन्न महामहिम है और राजनीति ही नहीं, बल्कि धर्म, शिक्षा, संस्कृति, साहित्य, कला, न्याय-कानून तथा इतिहास-भूगोल-खगोल आदि ज्ञान-विज्ञान के सारे अंग इसी सर्वप्रभुत्व के आधीन हैं।

राम जन्मभूमि और बाबरी मस्जिद का सारा झगडा इसी संप्रभुतावाद की आड़ में खड़ा है और जब तक देश में सांस्कृतिक चेतना का अकाल मौजूद रहेगा, तब तक राम जन्मभूमि बनाम बाबरी मस्जिद का मजहबी मर्कट-संग्राम भी मौजूद रहेगा जरूर। क्या अकारण है कि प्रांतीय से लेकर केन्द्रीय सरकार तक, साथ में तथाकथित विपक्षी मोर्चों के भी- इस मामले में सबके मुँह में समान मात्रा में दही जमा है कि क्या होना चाहिये आखिर ? राम जन्मभूमि और बाबरी मस्जिद में से किसे जस-का-तस रखा और किसे जमीन में बिछा दिया, या और ऊँचा कर दिया जाना चाहिये ? आखिर तो कुछ-न-कुछ फैसला लेना ही होगा ? कहा जा सकता है कि जन्मभूमि तो पहले से ही बिछी या कि बिछायी हुई है, लेकिन नक्शा तो अगर हवा में भी हो, तो होगा बाकायदे विद्यमान।

आइए, देखें कि इस अत्यंत ही गंभीर महत्व के नाजुक सवाल पर किन्हीं ऐसे लोगों ने भी कुछ सोच-विचार किया, है या नहीं, जिनके प्रसंग में कहा गया कि संस्कृति की समझ रखनेवाले लोग। फिलहाल हम यहाँ भाई मासूम रजा की इस पेशकश पर विचार करें कि दोनों को ढहाकर, केन्द्र की धर्मनिरपेक्ष सरकार, इस जमीन पर 'राम-बाबरी पार्क' बना दे और हिंदू-मुसलमान-सिख-इसाई आदि सबके बच्चे एक साथ इस पार्क में खेलें-कूदें और रंग-बिरंगी चिड़िया की तरह चहचहायें।

इसमें क्या शक कि पेशकश, पहली नजर में, सिर्फ धर्मनिरपेक्ष ही नहीं, बल्कि इतनी ही मासूम भी है, लेकिन एसी और इतनी मासूमियत भी क्या, जो भूत को हजामत बनाकर घर में बनाये रखने की नादानी तक जा पहुँचे ?

काल भी भूत बन जाया करता है, अगर कि काल से मनुष्य के सबध की समझ नदारद हो जाय। राही साहब को कौनग़ैर समझाये कि जिनका काल एक नहीं, उन्हें एक ही अर्थ में लेना समझदार होने की निशानी नहीं। राम और बाबर का काल एक नहीं। न चरित्र, न अवधारणा, न लक्षण। इसलिये एक बार को राम जन्मभूमि के अस्तित्व को नकार कर, सारे विवादग्रस्त परिसर में, सिर्फ बाबरी मसजिद ही कायम रखे जाने का रुआव तो समझ में आनेवाला भी हो सकता है, क्योंकि तब यह सिर्फ ग़लत या सही दावेदारी का मामला ही बनेगा लेकिन राम-बाबरी पार्क, राम-बाबरी लाइब्रेरी, राम-बाबरी नर्सरी अथवा राम-बाबरी विद्यापीठ का मतलब हर हाल में सिर्फ एक ही हो सकता है- हिंदू-मुसलमान के धार्मिक मवेदनों को जब चाहें, तब सांप्रदायिक दगों के मुकाम तक पहुँचा सकने के चोर-दरवाजे कायम रखना।

आज की हकीकत क्या है ? और क्या यह डा राही मासूम रजा की पेशकश से कुछ दींगर है ? आधे में राम और आधे में बाबर- इन्हे जैसे राम-बाबरी पार्क में मौजूद रहना होगा, तैसे ही तो आज भी उपस्थित हैं ? और इस उपस्थिति को दोनों धड़ों के मजहबी ठकेदारों और उनकी सरपरस्त सरकार के द्वारा एक म्यान में की दो तलवारों की हैसियत दी जा चुकी है, तो इससे क्या फर्क पडना है कि म्यान (यानी स्थान) का नाम राम जन्मभूमि-बाबरी मसजिद रहे, या कि राम-बाबरी पार्क ? रजा बतायेगे कि राम-बाबरी पार्क की हकीकत राम जन्मभूमि-बाबरी मसजिद की तुलना में कितनी धर्मनिरपेक्ष हो सकती ?

बहस, या कहें कि बात, चलाने के लिये राही मासूम रजा साहब को चुनने की पहल इसलिये भी की गयी है कि एक तो रजा सुपात्र हैं, उनके विचारों से हम सहमत या असहमत हो सकते हैं, लेकिन यह नहीं कह सकते कि उन्हें संस्कृति की समझ नहीं। जो गंगा-जमुनी संस्कृति के नाम से जानी जाती है, उसकी सबसे खरी और मोहक तस्वीर उन गाँवों या कस्बों में मिलेगी, जहाँ हिंदू और मुसलमान एक ही जमीन की दो औलादों की हैसियत का जीवन जीते आज भी दिखाई पडते जायेंगे। राही का दूध में दूध के मेल-मिलाप की सी इस हिंदू-मुसलमान साझेदारी से बहुत नजदीक का परिचय रहा है। यहाँ मेल-मिलाप, प्यार-मुहब्बत ही नहीं, जमीन-जायदाद, लेन-देन, बात-व्यवहार के हजार झगडे हैं, भयकर सिरफोड भी रहा है, हिंदुओं और मुसलमानों के बीच, लेकिन यह हिंदू धर्म और इस्लाम के बीच का मत्थाफोड नहीं रहा।

दूसरे, चूँकि इस तरह की पेशकशें, रजा के साथ-साथ, अन्य बहुत-से सयानों की भी हैं कि सरकार यों करे, या त्या करे, रजा साहब ने भी हमारी स्वनामधन्य धर्मनिरपेक्ष भारत सरकार को ही जिम्मा सौंपना जरूरी समझा कि वह राम जन्मभूमि मंदिर बनाम बाबरी मसजिद मामले को राम-बाबरी-पार्क बनाकर सुलझा डाले। इसलिये कहना

जरूरी जान पड़ता है कि ये पेशकशें सस्कृति के विरुद्ध हैं। सस्कृति का मतलब समाज का पच-फैसला होता है, हुकूमत की बदरबाँट नहीं। रजा भी अच्छी तरह जानते हैं कि हमारी धर्मनिरपेक्ष सरकार इस सवाल को जब भी निपटाये, हिंदू वोट और मुसलमान वोट के गुणा-भाग या स्वयं के शुभ-लाभ के हिसाब से ही निबटायेगी। नहीं तो, जहा का तहा बना रखना चाहेगी। अचानक कोई झटका खाए और हाथों के तोते उड़ जायें, यह बात दीगर है, जैसे कि पजाब में। इसलिये धार्मिक मामलों में भी सरकार को ही अंतिम निर्णायक शक्ति का दर्जा देने में इस खतरे का ध्यान जरूरी होगा कि हुकूमत का स्वर्ण मंदिर का मामला निपटाये अभी ज्यादा वक्त नहीं बीता है। अफसोस कि रजा ने ध्यान नहीं रखा। जैसा कि पहले भी कहा, राम जन्मभूमि मंदिर बनाम बाबरी मस्जिद मामले को बहुत ध्यान से, और बहुत गहरे जा कर देखना जरूरी है, यह दरअसल हिंदू-मुसलिम एकता या हिंदू-मुसलिम दोफाड का सवाल है।

सिख-हिंदू मामले का सरकारी निबटारा हम देख चुके हैं। गनीमत कहिये कि इसी हादसे और छीछालेदर के कारण अभी सरकार के शिकजे कुछ ढीले पड़े हैं। वह समय निकालना चाहती है, ताकि तब तक में लोगों की स्मृति में से उसके सिख-हिंदू निबटारे के खून के धब्बे कुछ धूमिल पड़ जायें। लेकिन मेरठ में एक छोटी-सी झलकी मिल चुकी है, इसलिये अगर राम जन्मभूमि बनाम बाबरी मस्जिद के हथ्र को स्वर्णमन्दिर से नहीं जोड़ना है, तो सावधानी जरूरी होगी कि हिंदू-मुसलिम दोफाड के इस सुलगते सवाल को सस्कृति के तर्क से सुलझाया जाय, वोट की राजनीति के हिसाब से नहीं।

हिंदू-मुसलमान एके का सवाल इस महादेश के दो सबसे बड़े बाशिदों के एके का सवाल है और अगर हम सस्कृति के तर्क से इस एके को अटूट कर दिखाते हैं, तो यह दुनिया-भर के उन देशों को एक बेमिसाल मिसाल होगी, जहा एक ही धर्म की अलग-अलग शाखाओं के बीच भी धर्म लड़ाई का सबसे बड़ा औजार रह चुका है।

आइए, देखे कि सस्कृति का यह तर्क क्या है।

अब यहा हम पहले ही ग्वीकार कर लेना चाहेंगे कि डॉ राही मामूम रजा- जैमे धार्मिक कठमुल्लेपन से बरी लोग मुसलमानों में ही क्यों, शायद, हिंदुओं में भी आसानी से नहीं दूँटे जा सकेंगे। डॉ रजा बात दरअसल भारतीय सस्कृति के उम्मी औदात्य की करना चाहते रहे हैं, जो आरती के दिये से सजी मेहरगबो वाली कुतुबशाही मस्जिद और मुसलमान के नादेश्वरम् की आवाज पर ही आख उघाड़ने वाले त्रिपुरबाना जी को सभव करता है। जो उर्दू में रघुपति सहाय फिराक और हिंदी में खुसरो, जायसी, कबीर, रहीम, रसखान के चमत्कार घटित कर दिखाती रही है। जिसमें दाराशिकोह, आचार्य जगन्नाथ स सस्कृत सीखता हुआ, प्रभुमुद्रा धारण करता है और मिर्जा सालबेग भगवान जगन्नाथ की आरती उतारते हैं और पीर-फकीरों की दरगाहों की दहरियों की धूल बड़े-बड़े पड़ितों की माथे का तिलक-चदन उतार लेती है। डॉ रजा इस तथ्य से भी बेखबर नहीं कि जाति

नहीं, गुण और धर्म नहीं, बल्कि आचरण से तौलना ही भारतीय सस्कृति की शर्त रही है। विकृतियों का इस देश में अकाल नहीं, लेकिन जब स्मृति और ज्ञान के मूल उत्सों की बात की जायेगी, तब सिर्फ सस्कृति की बात ऊपर रखी जायेगी, ताकि हम देख सकें कि सारे सांप्रदायिक जहरबादों की काट कहा है। लेकिन जहर के काट की उतावली में खुद दूसरे की उगली काट खाना ठीक नहीं। राम-बाबरी पार्क का नुस्खा इसी बेसब्री और बदसमझी की मिसाल है, लेकिन जरा पहले देखे तो कि रजा साहब ने इस प्रसंग में फरमाया क्या है?

रजा साहब की मासूम नसीहतों की कुछ बनगियाँ इस प्रकार हैं-

१. जाहिदे-तंगनजर ने मुझे काफिर जाना और काफिर यह समझता है मुसलमान हूँ मैं। मगर मजे की बात यह है कि न मैं काफिर हूँ, न मुसलमान। मैं तो एक हिंदुस्तानी मुसलमान हूँ और इसके सिवा मेरी कोई और पहचान नहीं है। तो आज आपसे गंगा का यही बेटा बात करना चाहता है, क्योंकि आज मेरा दिल दुखा है। धमकियों-भरे खतों से मुझे डर नहीं लगता, क्योंकि मुझसे पहले भी बहुत-से लोग सच बोलने के जुर्म में मारे जा चुके हैं।
२. मुझे जो बात परेशान करती है वह यह है कि लोग सिर्फ वही बातें क्यों सुनना चाहते हैं, जिन्हें वे सच मानते हैं। जानते नहीं, मानते हैं और जानने की कोशिश ही नहीं करते। मैं सचमुच यह जानना चाहता हूँ कि अगर आपको लाखों लाख मंदिर और मसजिद बनवाने का अधिकार है, कि अगर आपको बौद्ध मंदिर गिरा कर, हिंदू मंदिर बनाने का अधिकार है, कि अगर आपको हिंदू मंदिर ढाकर मसजिद बनाने का अधिकार है, कि अगर आपको पंजाब की मसजिदों को मंदिर या गुरुद्वारे बना लेने का अधिकार है, तो मुझे यह कहने का अधिकार क्यों नहीं है कि एक ऐसे मंदिर और एक ऐसी मसजिद को ढा दिया जाये, जो हमारे नागरिक और सामाजिक जीवन में आग लग जाने का कारण बन सकती है ?
३. सुलतानपुरी ने मुसलमानों को बताया कि मैं बाबरी मसजिद को गिराने की बात कर रहा हूँ और यह बेनाम आदमी^१ यह कह रहा है कि राम जन्मभूमि का मंदिर गिराने की बात कर रहा हूँ। जबकि पूरा सच यह है कि मैंने दोनों को गिराकर वहाँ बच्चों के लिये एक राम-बाबरी पार्क बनाने की बात कही थी। उस सुलतानपुरी मुसलमान और इस शिव सैनिक हिंदू के आधा सच बोलने से यह पता जरूर चलता है कि सांप्रदायिकता का कोई धर्म नहीं है। वह सेक्युलरिज्म पर हमला करने के लिये कभी भी हरे और कसरी का गठजोड़ करवा सकती है। ['गंगा' जून १९८७ से]

यहाँ उतावली में, यह सवाल न किया जाये कि जून १९८७ के वक्तव्य को १९८८ के उत्तरार्द्ध में लेने की तुलना क्या होगी। जो सवाल शताब्दियों से उलझा पड़ा हो, उसके प्रसंग

१- 'एक कुत्सित गुमनाम पत्र' का जिक्र रजा साहब ने किया है, जिसमें उन्हें अंतर्द्वियों में त्रिशूल भोंक देने की धमकी दी गयी।

मे साल-दो साल के बेटुके होने की गुजाइश ही कहा होगी ? यों लिखा उस वक्त भी था, लेकिन 'गंगा' में छप नहीं पाया।

बहरहाल प्रासंगिकता आज भी है, और हमें जवाब में कहना है कि पहली बात, अगर रजा साहब मुसलमान नहीं, तब हिंदुस्तानी मुसलमान ही कैसे हो जायेंगे ? अमरूद के भी इलाहाबादी या मुरादाबादी होने का सवाल तभी सामने होगा, जब कि पहले वह अमरूद हो। दरअसल, इस बात के जिक्र को हम जोर देकर इसलिये कहना चाहते हैं कि यह सस्कृति के विरुद्ध पडने वाली बातें हैं। भारतीय सस्कृति का मतलब ही हुआ कि धर्म या जाति से कुछ फर्क नहीं पडना। ठीक वैसे ही, जैसे कि नाना प्रकार के फूलों के होने से बगीचे की शोभा बिगडती नहीं, और सवरती है। सवाल धर्म, जाति या सामाजिक-विचार को मनुष्यविरोधी बना डालने का है। रजा बतायेंगे कि जो मुसलमान ही नहीं, वह हिंदुस्तानी मुसलमान कैसे होगा ? इस तरह की खुदगढत सफाईया दाढी में तिरका साबित करता है। रजा अगर 'सिर्फ हिंदुस्तानी हूँ' कहते तो बात अलग होती। हिंदुस्तानी मुसलमान का मतलब मुसलमान नहीं होना कतई नहीं होता और न मुसलमान होने का मतलब हिंदू से कमतर होना होता है।

जिसे हम गंगा-जमुनी सस्कृति के नाम से जानते हैं, उसका सार ही इसमें है कि गंगा के बेटे को जमुना के बेटे से तो क्या, काबा-मदीने का बेटा होने से भी कोई फर्क नहीं पडना, अगर कि धरती मजहब से बड़ी चीज हो। गंगा-जमुनी सस्कृति देन ही ऐसे लागा की है, जिनकी भाषा, कला, संगीत, साहित्य से लेकर दस्तकारी तक में से बताना असंभव हो जाय कि हिंदू धर्म की गवाही ज्यादा दे रहे हैं, या इस्लाम की ? लेकिन राम जन्मभूमि बनाम बाबरी मस्जिद के बार में यही नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसके पीछे हिंदुओं की जमाते अलग खड़ी हैं और मुसलमानों की अलग और दोनों की भाषा दाफाड है। दोनों की नीयत में दरार है। दोनों का इरादा गंगा-जमुना की तरह एक होने का नहीं, एक दूसरे पर धौंस जमाना, खुन्नस उतारना और कठमजहबी कुश्ती खेलना है।

दूसरी बात, धर्म, सस्कृति, देश, काल या समाज के सवाल इतने आसान नहीं होते कि उन्हें इतनी आसानी से निबटा दिया जाय। हिंदुओं ने कितने बौद्ध विहारों को ढहा कर मंदिर स्थापित कर डाले। सिखों ने कितनी मस्जिदों का गुरुद्वारा में बदल डाला, या मुसलमानों ने कितने मंदिरों-गुरुद्वारों और बौद्ध-जैन विहारों का जमींदार करके मस्जिद खड़ी कर ली- इसका बहीखाता खालने पर मामला सुन्नडागा नहीं और ज्यादा उलझना है। इससे आखिर रजा साहब का ही तर्क उलटता है, क्योंकि अनुपात ठीक वही कहानी नहीं कहगा, जिसे रजा सुनाना चाह रहे हैं।

अलबत्ता कहने का हक जरूर है, लेकिन यहाँ भी ध्यान रखना जरूरी होगा कि हमारे नागरिक-सांसाजिक जीवन में आगे लगानेवाला वस्तुएँ बाबरी मस्जिद या राम जन्मभूमि मंदिर के गारा-पत्थर नहीं, बल्कि धर्म की रजनीति खललवाना या समाजद्रोही है जिनकी संवेदना, दृष्टि और समझ सभी पर पत्थर पड़े हैं और जिससे बाबरी मस्जिद या राम जन्मभूमि मंदिर के

‘राम-बाबरी पार्क’ में बदल जाने से भी हमारे नागरिक-सांसाजिक जीवन को सांप्रदायिकता की बर्बर अग्नि से कोई छुटकारा नहीं मिलना, अगर कि ये आगलगाउवे सलामत रह जायें। क्या रजा सचमुच इस बात पर ईमान लाना चाहेंगे कि ‘राम बाबरी पार्क’ का बन जाना ‘राम जन्मभूमि, बाबरी मसजिद’ के सैकड़ों साल पुराने और अब नासूर की शक्ल ले चुके मसले को हमेशा-हमेशा के लिए न सही सिर्फ चंद दिनों, महीनों या सालों के लिए ही सही, हल करेगा जरूर ? हम कहना चाहेंगे कि इस खुशफहमी और खामख्याली में कुछ नहीं रखा, क्योंकि यह नुस्खा इल्मी कम, फिल्मी ज्यादा है।

तीसरी बात, अर्द्धसत्य से दीगर खुद रजा साहब ने कुछ नहीं कहा, क्योंकि हिंदुओं द्वारा बौद्ध मठों या सिखों के द्वारा भी मसजिदों को ढहा कर मंदिर- गुरुद्वारा बनाये गये होने के जिस तर्क से उन्होंने बाबर के द्वारा -या बाबर के नाम पर -राम मंदिर ढहा बाबरी मसजिद बनाये गये होने का औचित्य सिद्ध करना चाहा है, उसमें कुछ दम नहीं, क्योंकि राम न बाबर के बाद की पैदाइश हैं, न सिर्फ कोई ऐतिहासिक राजा। मुसलिम समाज या इस्लाम बाबर पर ठीक वैसे ही नहीं टिके जैसे हिंदू समाज की जातीयता, स्मृति और धर्म या सवेदन के सवाल राम पर। फिर रजा साहब धर्मनिरपेक्षता पर हमले का खतरा दिखाने में सिर्फ हरे और भगवे के गठजोड़ का ही जिक्र क्यों करना चाहते हैं- सफेद रंग को धर्मनिरपेक्षता की ‘गारटी’ करार देने के लिए ही तो ? जबकि जो सफेद हो, उसी के रंग बदलने के खतरे भी ज्यादा होंगे।

अब यही हम डॉ. रजा की भारतीय संस्कृति में मुसलमानों के हाथ की बात पर कुछ कहेंगे। धर्म अग्रेजों के आगमन से पहले इस अर्थ में भारत की केन्द्रीय वस्तु नहीं रहा कि सांप्रदायिकता की आग बन जाये। यहा देश और संस्कृति ऊपर रहे, धर्म नहीं। आर्य प्रजातिया पृथ्वी की बात ज्यादा करती रही, धर्म की कम। अलबत्ता गंगा-जमुनी संस्कृति की जो बात हम करते हैं, वह भारत में (हिंदू-संस्कृति में भी) मुसलमानों की देन जरूर है।

हमलावर दोनों रहे, अग्रेज भी मुसलमान भी, लेकिन अग्रेजों के लिए जहाँ यह देश साम्राज्यवादी लूटखसोट के औपनिवेशिक अड्डे से ज्यादा कुछ नहीं रहा, वही -गोरी, गजनवी, नादिरशाह-प्रभृति लुटेरो की बात छोड़ दे- सभी मुसलमान शासकों के बारे में ठीक यही बात नहीं कही जा सकती।

गंगा-जमुनी संस्कृति के निर्माण में देश और संस्कृति को पहला दरजा देने में ईमान रखनेवाले मुसलमानों की भागीदारी है उन कट्टर मजहबी मुसलमानों का इसमें कोई योगदान नहीं, जो मजहब को देश से ऊपर घोषित करते रहे हैं। अग्रेजों की कूटनीति से हिंदुओं और मुसलमानों में यह कठमुल्लापन बढ़ता गया और आज शाही इमाम, सुलेमान सैत और शहाबुद्दीन-मार्का मुसलमानों के तथाकथित सबसे बड़े रहनुमा ‘ऐ हमारी कौम के लोगो- एक सच्चे मुसलमान के लिए मजहब पहले है मुल्क बाद में’ की अजान दे-दे कर पूरे देश को फिर से विभाजन के खतरों में झोकने पर तुल हैं, तो हिंदुओं में

बालठाकरे-जैसी सस्कृतिशून्य सांप्रदायिक शक्ति का उदय संभव हुआ है। और गजब कि मिया शहाबुद्दीन और श्रीमान बालठाकरे- जैसे लोग एक-दूसरे के दुश्मन नहीं, पूरक तत्त्व हैं। इन दोनों को जरा राक्षसी की छाया और मिल गयी है, कांग्रेसी हुकूमत से। सत्ता में 'बंदरबांट' के लिए इन्होंने मुसलमानों और हिन्दुओं को सत्ता-समीकरण की निर्धारक सांप्रदायिक ताकतों के तौर पर कायम रखने की मुहिम चलाये रखी है।

इतना हम फिर कहेंगे कि रजा खुद अर्द्धसत्य के रास्ते पर हैं। 'राम-बाबरी पार्क' का उनका फिल्मी नुस्खा और इल्मी सपना भी इसी अर्द्धसत्य की देन है। वे साफ-साफ कर्तई नहीं कहते कि मजहब को मुल्क से बड़ा माननेवालों के लिए इस देश में कोई जगह नहीं हो सकती, नहीं होनी चाहिये, क्योंकि मजहब के नाम पर मुल्क ने 'पाकिस्तान' बनाया। रजा को इस तथ्य से इनकार नहीं होना चाहिए कि पाकिस्तान भी मुसलमानों के ही हाथों की देन है, सिर्फ भारतीय सस्कृति नहीं।

किस मुसलमान की बात करना चाहते हैं, डॉ॰ रजा ? जो ब्रज-गोकुल गाँव के ग्वारन ही नहीं, बल्कि 'जो पशु हों' तो कहा बस मेरो, चरों नित नद की धेनु मझारन, को खुद के मुसलमान होने में कर्तई बाधक नहीं पाता- या उस मुसलमान की, जो बाबर को राम के सुकाबले में खड़ा करके इस्लाम को खतरे से बचा सकने के मजहबी जेहाद का बिगुल बजाता घूम रहा हो ? डॉ॰ रजा बतायेंगे हमें किसी ऐसे त्रिशूली हिंदू का पता-ठिकाना, जो अमीर खुसरो, रहीम, रसखान, जायसी, गालिब, मीर, दाग, जिगर, फैयाज खा, बिस्मिल्ला खा, अमीर खा, अलाउद्दीन खा, बेगम अख्तर, अशफाक या हमीद की अतडियों में त्रिशूल भोंकने की बात करता हो ?

बालठाकरे के 'त्रिशूली हिंदुओं' के सामने खुद की शहादत की पेशकश करने वाले डॉ॰ राही मासूम रजा इस देशद्रोही गंठजोड़ को छूना नहीं चाहते। वे दरअसल, रोग पर हमला न बोल कर, फोड़े का मवाद सानने की घतुर बौद्धिकता से ज्यादा काम लेना चाहते हैं। अन्यथा वो भी मानते भले ही नहीं हों, लेकिन जानते जरूर होंगे कि दो अर्द्धसत्यों को मिलाना पूरे सत्य को रचना नहीं, बल्कि और खतरनाक झूठ को चलाना होता है।

यह रजा साहब ही नहीं, सारे बौद्धिक जगत की सीमा है कि सामुदायिक या सांप्रदायिक नेतृत्व की लगाम हमारे हाथों में नहीं। सियासी रहनुमाई, देश के दुर्भाग्य से, आज पूरी तरह उन लोगों की मुट्ठी में है, जिन्हें सोच-विचार या संवेदन अथवा राष्ट्र या समाज के हित के सवाल से कोई वास्ता नहीं। जो खुद की कुरसी या राष्ट्र में से एक का तोड़ना हो, तो राष्ट्र तो तोड़ना पसंद करेंगे। और कि दूरदर्शन- आकाशवाणी ही नहीं, बल्कि हजारों-हजार अखबार भी जिनकी उगलियों में लिपटी सूत के हिसाब से अपना मुह खोलते और बढ़ करते हैं। जो संचार-प्रसार माध्यमों पर अपनी दसमुखी गिरफ्त के बूते, पूरे देश में जातिवाद और जातिवादी मानसिकता का अहर्निश उत्प्रेरण और नियंत्रण करने में पूरी तरह सक्षम हैं। जिन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के चंगुल से बाहर निकलते देश को खुद के शिकजे में कस लिया है। जिन्होंने करुणा, संवेदना, सहभागिता,

सदाशयता, समरसता, सहिष्णुता और सामाजिक सोच-जैसे सारे नैतिक मूल्यों को अजगर की तरह निगल लिया और पूरे राष्ट्र में एक भयावह वैचारिक तथा सवेदनात्मक उजाड़ और सन्नाटा कायम कर दिया है। जो खुद के एक ही इशारे पर हजारों -लाखों को सड़क पर नगनाच दिखाने को प्रेरित करने में कामयाब हैं। जिन्होंने सवेदन और सोच-विचार के सवाल को उठाने में समर्थ लोगों की जगह धार्मिक-सांप्रदायिक और जातिवादी जहरबाद की नौटकी खड़ी करने वाले कठमुल्लों को देश के मूर्खन्य प्रतिनिधियों के तौर पर गोलबद कर दिखाया है। इन महामहिम सियासी प्रभुओं के अकूत राक्षसीबल को जाने बिना, खुद की सीमाएँ पहचानना संभव नहीं होगा।

‘राम-बाबरी पार्क’ की धर्मनिरपेक्ष पेशकश इसी मासूम बौद्धिक मुगालते की उपज है जो हमें झुनझुना बजा कर बुढ़ापा काटने की सलाह देने से कमतर मजाक सचमुच नहीं। क्या डॉ. मासूम रजा को सचमुच इतना भी इल्म नहीं कि राम जन्मभूमि बनाम बाबरी मसजिद की सियासी-मजहबी जुगलबदी खेलने वाले इतने मासूम कतई नहीं कि उनके हिस्से सिर्फ आग लगाने की तोहमत रह जाये और आग बुझाने का श्रेय डॉ. मासूम रजा या हम ले उड़ें और ‘राम-बाबरी पार्क’ में हिंदू-मुसलमान-सिख-ईसाई, सारे भारतीयों के बच्चे शुद्ध हिंदुस्तानी धर्मनिरपेक्ष किल्कारियों-अठखेलियों से भारतीय संस्कृति के स्वर्णिम पृष्ठ रचते दिखाई पड़ें ?

नहीं, इन बेबुनियाद धर्मनिरपेक्ष खामख्यालियों और किस्सेबाजी के स्तर की हवाई काव्यात्मक फुलकारियों में रामजन्म भूमि बनाम बाबरी मसजिद मामले का कोई निदान कतई नहीं। -इस तरह की खामख्यालियों, खुशफहमियों और लफ्फाजियों से ही काम चलाना हो, तब राम-बाबरी क्यों, हा राही मासूम रजा पार्क कर लेने में क्या हर्ज है ? क्योंकि जहाँ तक हम-जैसे लोगों का सवाल है, हमें जितनी जगह और जैसी हरियाली हा मासूम रजा पार्क में मिल सकेगी, राम-बाबरी पार्क में कहाँ ?

किया क्या जाये राम जन्मभूमि और क्या बाबरी मसजिद का, इस बात से पहचने हम इस सवाल में थोड़ा और जाना चाहेंगे कि धार्मिक, सांप्रदायिक या वर्गीय तुष्टियों के संभावित खतरे क्या हुआ करते हैं ? व्यक्ति की धार्मिक मासिकता के तत्तु जितने कोमल हों, संप्रदायवाद का हिस्सा बन जाने पर, ये अतने ही विस्फोटक भी हो जाते हैं अगर राम जन्मभूमि बनाम बाबरी मसजिद का हल इस या उस, अथवा दोनों संप्रदयों के कठमुल्लों की समान धार्मिक राजनीतिक तुष्टि और स्वार्थसिद्धी के तौर निकाला गया, तो तय है कि सांप्रदायिक विद्वेष का कर्करोग जस-का-तस मौजूद रहेगा, क्योंकि यह हल तो पहले से ही मौजूद है। आधे में राम जन्मभूमि और आधे में बाबरी मसजिद -जब ताला बंद था, तब भी कांग्रेसी हुकूमत का नुस्खा यही था और ताला खुलने के बाद भी स्थिति वही है।

राम जन्मभूमि बनाम बाबरी मसजिद के सवाल में ध्यान इस बात पर देना जरूरी होगा कि हिंसा डर की उपज है। यह एक सचाई है कि दगों में ज्यादातर गभीर क्षतियाँ मुसलमानों -या कह लें कि अल्पसंख्यकों को उठानी पड़ती हैं लेकिन भूलना नहीं चाहिए

कि इसमें बहुसंख्यक हिंदुओं से ज्यादा सदिग्ध तथाकथित धर्मनिरपेक्ष सरकार की भूमिका रही है। दिल्ली और मेरठ के दंगों की हकीकत यही है। हिंदू भी डरे-सहमे हैं, सिर्फ मुसलमान ही नहीं, यह एक हकीकत है और बहुत खतरनाक व तकलीफदेह हकीकत।

और यह सारी दहशत उस तथाकथित धर्मनिरपेक्ष सरकार का अविष्कार है, जो कि सर्वधर्मसमभाव के मुखौटे में सर्वसम्प्रदायवाद-जातिवाद-नस्लवाद के विवादों को चला रही है।

अगर केन्द्र में सांप्रदायिक तत्वों का जमावड़ा नहीं होता, राष्ट्रीय सामाजिक सोच-विचार के लोग सत्ता में होते, तो न हिंदुओं को मुसलमानों से डर होता और न मुसलमानों या सिखों को हिंदुओं से। न सवर्णों से हरिजनों को। सरकार की विश्वसनीयता के नष्ट हो चुके होने के कारण ही सब डरे हैं और अपने-अपने सुरक्षा-व्यूह रचना चाहते हैं। लेकिन चूंकि फौज और पुलिस की शक्तियां सरकार के हाथों में हैं, इसलिए अपनी-अपनी सांप्रदायिक वोट-शक्ति का दबाव बनाना ही एकमात्र रास्ता दिखाई पड़ता है। राम जन्मभूमि और बाबरी मस्जिद के पीछे भी यही सियासी-सांप्रदायिक लुका-छिपी काम कर रही है। अगर केन्द्र सरकार किसी तरह यह साख बना ले कि दंगों से सिर्फ सांप्रदायिक गुंडा-शक्तियों को नेस्तनाबूद करने के इरादे में निबटा जायेगा- धर्म और जाति के हिसाब से राजनीतिक गोट बिठाते हुए नहीं, तो सारे सांप्रदायिक तत्व दूध में के उफान की तरह नीचे बैठने शुरू हो जायेंगे और सांप्रदायिक समरसता की संस्कृति में ईमान लाने वाले लोगों को आगे बढ़ने को जमीन मिलेगी।

अब अगर हम राम जन्मभूमि बनाम बाबरी मस्जिद के सामाजिक पक्षफैसले पर भी आएं, तो न्याय की तुला का तर्क क्या होगा ? यह कुतर्क कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद के दलाल देश को जिस मुकाम पर छोड़ गये, इसे वही ज्यों-का-त्यों, जैसा-का-तैसा कायम रखा जाय ? या कि एक स्वाधीन देश अपने सारे फैसले खुद की संस्कृति, भूमि और भवितव्यता के आधार पर ले ?

अंग्रेजों का काम जिन्ना एड कम्पनी के नाम पाकिस्तान लिख जाने के साथ ही खत्म हो गया। भारतवर्ष अंग्रेजों की पुश्तैनी जागीर नहीं, जो कि वे जाते समय स्थितियों को जहाँ छोड़ गये, वही कायम रखा जाय। पाकिस्तान के साथ ही मजहबी जुनून के मुरीदों का हक भी खत्म हो गया, इस सचाई से मुँह चुराने में कुछ नहीं रखा, न ऐसी कोई जरूरत है, क्योंकि इससे पाकिस्तान जाने से इन्कार करनेवाले मुसलमानों का हक खत्म नहीं, पुख्ता हुआ। लेकिन किन मुसलमानों का ? जा कभी इस्लामी कानूनों और कभी बाबरी मस्जिद के बहाने अपनी सांप्रदायिक शक्ति का हौवा खड़ा करने में ही खुद की शान और कौम तथा मजहब की बेहतरी समझते हैं ? जो धार्मिक विवादों को हिंदुओं के साथ मिल-बैठ कर सुलझाने की जगह, कांग्रेसी सल्तनत के साथ वोटों की सौदबाजी का सियासी जाल बुनने को ज्यादा तरजीह देते हैं ? जो हर बार और ज्यादा जोर-शोर से यह बदरघुडकी देते हैं कि अगर उनके मजहबी कठकानूनों के ऊपर देश के राष्ट्रीय कानून लाये गये या कि बाबर को राम से कम करके देखा गया, तो वो भी धज्जिया बिखर देंगे ?

अमीर खुसरो, रहीम, रसखान, कबीर और जायसी, तानसेन आदि के भारतीय सस्कृति के निर्माण में लगे हाथों की गवाही किन मुसलमानों के पक्ष में खड़ी करनी चाहते हैं, रजा ? और किन हिंदुओं के खिलाफ ? भारतवर्ष इतने भयंकर विश्वासघात, सघात और अग-भग झेलने के बाद भी 'हिंदू राष्ट्र' नहीं बना है तो यह सबूत है कि यहाँ का हिंदू समाज बालठाकरे के त्रिशूली हिंदुओं तक ही महदूद नहीं।

यहाँ 'गंगा' से गंगापुत्र रजा साहब के बौद्धिक विलाप के दो प्रसंग और उद्धृत कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा। किसी गुमनाम त्रिशूली हिंदू के उनको लिखे पत्र की चंद पंक्तियाँ यों हैं- 'साले कटवे, मक्के मदीने पर तू खुद पेशाब कर। उसके बाद उसे बम से उड़ा दे- राम जन्मभूमि को ढाहने करने की हिम्मत तेरी -शिवसेना का त्रिशूल तेरी अंतड़ियों में घुसने का तैयार है- गंगा में नहा तू सुअर। अगर कुछ जानना है, तो वेदों को पढ़, उपनिषद् पढ़।'।

उपरोक्त सदर्थ में हम इतना ही कहेंगे कि जहाँ तक वेदों-उपनिषदों के सही ज्ञान का सवाल है, वह भी त्रिशूली हिंदुओं से कम नहीं, ज्यादा ही होगा मासूम रजा में- और देश से वफादारी और मुहब्बत भी। लेकिन इस तरह की गंद तश्तरी में रख कर दिखाने की वस्तु नहीं, क्योंकि कल कोई बददिमाग 'बल्लमी मुसलमान' भी इस तरह के कुत्सित खत किसी हिंदू को भेज सकता है। इस तरह के गुमनाम खतों को गुमसुम रखना ही ठीक।

हम रजा साहब के लेख में से ये प्रसंग सिर्फ इस इरादे में ले रहे हैं कि आगे भी कुछ विकृतकर्मी इस तरह की हरकतें कर सकते हैं, लेकिन समझदारी इसी में होगी कि इन पर न मुसलमान कोई तवज्जो दे, न हिंदू रत्ती-भर भी ध्यान, क्योंकि यह गुमनाम त्रिशूली पत्र कोई हिंदू धर्म का प्रतीकचिह्न नहीं।

रजा की वेदना जायज है, लेकिन गुमनाम चिट्ठी की प्रदर्शनी नहीं। आज भारत के जाने कितने मुसलमानों का जी दुखा हुआ है। यह भारतीय सस्कृति ही नहीं, हिंदुओं के लिए भी भयानक रूप से अशुभ है। हम उनके इस विषाद से भी काफी हद तक सहमत हैं कि - 'हिंदुत्व को मिटाने में कोर-कसर न छोड़ने की बात न कीजिए। हिंदुस्तान के मुसलमानों ने हिंदू सस्कृति और सभ्यता को अपने खूने-दिल से सींच कर भारतीय सस्कृति और भारतीय सभ्यता को बनाने में बड़ा योगदान किया है। आप-जैसों की परेशानी यह है कि आप लोग धर्म की धूल-भरी, गहरे रंगवाली ऐनक उतार कर, धूप का असली रंग देखने को तैयार ही नहीं हैं। भूल जाइए कि हिंदुस्तान सिर्फ आप-जैसे हिंदुओं ही का है। हिंदुस्तान मेरा भी है और वह किसी भी तरह आपसे कम मेरा नहीं है।' ^१

हम रजा साहब के इस दावे से बिल्कुल सहमत हैं कि हिंदुस्तान उनका भी है और नैतिक दृष्टि से हिंदुस्तान में पहला हक उन-जैसे सवेदनशील और सदाशयी लोगों का ही होना चाहिए। रजा साहब ही क्यों, किसी भी ऐसे मुसलमान का हक हिंदू से कम नहीं, जिसमें ठीक वैसे ही यहाँ की मिट्टी बोलती हो, जैसे रजा साहब में। बल्कि हम कहेंगे

कि रजा साहब-जैसे मुसलमानों का हक इस देश की मिट्टी में उन तमाम हिंदुओं से ज्यादा है जो भारत की बेमिसाल सांस्कृतिक गरिमा को मिट्टी में मिला कर, पाकिस्तान की नकल में, एक शुद्ध हिंदू राष्ट्र का विकृत नक्शा खड़ा करना चाहते हैं। वह हर हिंदू भारत का अत्यंत घातक शत्रु है, जो देश की इस सांस्कृतिक अस्मिता को कुचलना चाहता हो कि सबसे ऊपर मनुष्य है। जाति वर्ण और धर्म इनसे आदमी की कोई पहचान पूरी नहीं होती। आदमी देश से गुँथा है।

समरसता का तक क्या बनता है ? जिस झगड़े को खड़ा करना अपरिहार्य न हो, उससे हाथ खींच लेना। बाबरी मस्जिद का झगड़ा झाड़ घुसेड़ कर फसाद खड़ा करना है। समय-समय पर अनेकों विचारशील मुसलमानों ने खुद यह पेशकश की है कि हम मुसलमानों को बाबरी मस्जिद का दावा छोड़ देना चाहिए। जो मुसलमान यह सोचते हैं कि बाबरी मस्जिद का दावा छोड़ देने से उनकी तौहीन होगी और हिंदू इसे उनका दबना मान कर चढ़ बैठेंगे- हम कहेंगे कि वो बिल्कुल गलत और खतनाक गलत सोचते हैं। अगर हिंदू समाज इतना पतित हो ही चुका है कि मुसलमानों की इस उदार और आत्मीय पहल को उनकी मजहबी या सांप्रदायिक हार करार देकर जश्न मनाये तथा उनसे और भी मस्जिदें छीनने की मुहिम तेज कर दे, तो मुसलमानों को चाहिए कि हिंदुओं को उनके हाल पर छोड़ दें, क्योंकि गलाजत आखिर उन्हें ही डुबोती है, जिनमें मौजूद हो।

उदारता और संवेदना किसी भी व्यक्ति, संप्रदाय या राष्ट्र को कमजोर नहीं शक्तिशाली बनाते हैं। मुसलमानों की आत्मीयता परस्पर की भागीदारी की पहल और भारतीय संस्कृति के प्रति खुद की भी आस्था को अगर हिंदू अपने धर्मयुद्ध की विजय, तथा 'हिंदू राष्ट्र' का रास्ता साफ होना करार दें, तो यह उनकी बुद्धि के विनाश के सिवा और किसी बात का सबूत हागा नहीं। विवेक और संवेदना जाते रहे तो कैसे भी परमशक्तिशाली अंततः विनाश के हवाले ही होते हैं।

मुसलमान को देखना होगा कि उनका करना क्या बनता है। जो सवय के सच और कर्म पर टिकते हैं, उन्हें दूसरों का अदेशा जाता रहता है क्योंकि रास्ता और कोई नहीं। अपने हिस्से का दाम चुका कर ही हम अपने में बने रह सकते हैं। हम तो यहाँ तक कहेंगे कि मुसलमानों को न सिर्फ यह कि बाबरी मस्जिद का दावा छोड़ देना, बल्कि राम जन्मभूमि मंदिर के निर्माण में हाथ बटाने की पेशकश करनी चाहिए और उस मंदिर में सबसे पहली आरती का हक किसी शंकराचार्य या अन्य हिंदू धर्माचार्य को नहीं, डॉ. गही मारूम रजा-जैसे मुसलमानों को मिलना चाहिए।

उदारता शक्तिमती की पहचान है, बर्बरता जाहिलों की। उदारता धर्म या मजहब में सं कुछ तोड़ती नहीं, जोड़ती है। जिस भारतीय संस्कृति का गाना रजा साहब भी गा रहे हैं, वह धर्म में उदारता को जोड़ती है। वही धारा नदी बनती है, जिसे दूसरी धाराओं का जल जुड़ता है। पाकिस्तान की संस्कृति क्या है ? उसकी एक चौहद्दीबद मजहबी शक्ति क्यों निकल आयी ? हम बिल्कुल विश्वास करना चाहते हैं कि बाबरी मस्जिद का जेहाद वापस लेने से मुसलमानों की साख बढ़ेगी। इससे हिंदुओं पर यह नैतिक दबाव बिल्कुल बनेगा कि मुसलमानों का सामुदायिक सौहार्द और मेल-मिलाप के लिए यहाँ तक हाथ आगे

बढ़ाने को तैयार है, हिन्दुओं का इरादा क्या है ?

हमें हर आपसी विवाद का सामाजिक हल निकालने की जरूरत है, सियासी या मजहबी नहीं। हिंदू और मुसलमान, इन्हे अगर एक सिक्का बनना है, जिसका एक पहलू गंगा, दूसरा जमुना हो -और इन्हीं दो पहलुओं में बाकी भी सारे रंग खिले रहे -तो रास्ता यही को जाता है। जिनका हक, जिनकी जरूरत और जिनका सवाल पहला हो। जिसमें साच, सवेदन और कर्म के मेल जुड़ते हैं। जो हिंदू-मुसलमान-सिख-ईसाई-पारसी का पचनद रच सकता है। जहाँ धर्म हमारी बाधा नहीं, शक्ति बन जाय। सस्कृति धर्म के इसी परिष्कार का नाम है। समुदायों को एक वृहद् समाज बनाने की कला का नाम।

बाल ठाकरे और उनके अनुयायी त्रिशूली-हिंदू सियासी मजहबी मुसलमान कठमुल्ला के समानधर्मी हो सकते हैं, भारतीय सस्कृति के दावेदार नहीं -लेकिन रजा साहब क्षमा करे कहने को कि राम-बाबरी पार्क की पेशकश 'गंगापुत्र' होने की गवाही नहीं ही हो सकेगी। हम यह बात बहुसंख्यक हिंदू समाज को ध्यान में रख कर कह रहे हैं, अन्यथा जहाँ हमारा सवाल है, हमें सचमुच डॉ॰ राही मासूम रजा पार्क में भी कोई फर्क नहीं पड़ना क्योंकि हमारे लेखे राम महाकाव्यात्मक सवेदना के साक्ष्य पहले हैं, मंदिर की प्रतिमा बहुत बाद में। यानी नाम-मात्र को, क्योंकि राम-नाम पार्क की चीज नहीं, भारतीय सस्कृति का महाशब्द है। इसी से यह आज सियासी-मजहबी चालबाजियों की भी आड़ हो गया है लेकिन चूँकि दावा पहला राम के होने का बनता है और हिंदुओं की चेतना-सवेदना से राम नाम के जन्म से मरण तक जुड़े होने का, इसलिए उनका पलड़ा कुछ अधिक भारी मान लेने में रजा साहब को भी एतराज नहीं ही होना चाहिए।

१८५७ की क्रांति के समय, बहादुरशाह जफर की पहल पर मुल्ला-मौलवियों की एक पचायत ने 'बाबरी मसजिद' का दावा छोड़ देने की पेशकश बाकायदे की थी, इतिहास के इस प्रसंग को 'बहादुर शाह जफर' सीरियल के लेखक रजा साहब हमसे बेहतर जानते हैं, हालांकि सीरियल में इसे या उन्होंने नहीं लिया, और या दूरदर्शनियों ने नहीं दिया। रजा साहब यह भी अच्छी तरह जानते हैं कि १८५७ में हिंदू-मुसलमान के एके ने अंग्रेजों को गंगा-जमुनी सस्कृति की की जड़े रेतन के इरादे तक पहुँचाया। ऐसे में, हम कोई नयी पेशकश नहीं कर रहे, बल्कि कभी जा हिंदू-मुसलिम एके का रास्ता खुद मुसलमानों ने निकाल दिखाया था, उसकी ही याद दिला रहे हैं।

अगर मुहम्मद साहब की मजार का दावा होता, तो हम भी चुप साध लेते, यह बाबर के द्वारा- या उसके नाम पर बनायी गयी मसजिद और किसी हिंदू राजा के द्वारा बनाये गये राम मंदिर का मसला होता, तो भी मामला इतना पेचीदा नहीं होता। राम जन्मभूमि और बाबरी मसजिद का तराजू पर एक साथ (और एक बराबर) वजन निकालना आसान नहीं होगा, फिर चाहे वह भारत सरकार की न्यायपालिका की जन्माध देवी की आखों पर काली पट्टी वाली इसाफ की देवी वाला तराजू ही क्यों न हो।

हम सिर्फ इतनी ही पेशकश करना चाहेंगे कि चूँकि धर्मविरहितता सभी भारतीय

समाज से अतिरिक्त से कम दूरी पर पर नहीं, ऐसे में, क्या इसमें सचमुच कुछ हर्ज होगा कि अयोध्या के एक कोने में राम-मंदिर रहे और दूसरे कोने में बाबरी मस्जिद ? एक में मुसलमानों के स्पर्श हो, दूसरे में हिंदुओं के ?

‘साथ-साथ’ की बात इसलिए कठिन है कि अभी देश में न सामाजिक जागृति है और न सांस्कृतिक समरसता की लहरे ऊपर उठ रही हैं। फिलहाल तो रास्ता कोई-न-कोई धार्मिक तृप्ति का ही निकलना होगा। हम रजा साहब से जानना चाहेंगे कि क्या ऐसा कोई रास्ता भी सूझा सकेगा, जिसकी हकीकत राम-बाबरी पार्क से भी अलग हो और राम जन्मभूमि बनाम बाबरी मस्जिद से भी ?

इतना हम जोर देकर कहना चाहेंगे कि सरकार इसमें कुछ नहीं कर पायेगी। दो बिल्लियों के बीच में बदर से इतनी ऊँची उम्मीद रखना हक में नहीं ही होगा। इस मामले में करोड़ों हिंदू-मुसलमानों के बीच का आपसी मुहब्बतनामा ही इस सवाल को नरक की आग बनने से बचा सकता है। हमारी समझ में, भारतीय संस्कृति का यही सारतत्व है। अब यह सवाल दीगर कि यह पहल कौन करना चाहेगा, कौन नहीं –स्वर्ण मंदिर के हादसे से कोई सबक हम ले सकते हों, तो उसका सही वक्त यही है। कहीं सियासत का फैसला पहले सामने आ गया तो फिर वह किसी सामाजिक फैसले की गुजाइश छोड़ेगा नहीं।

रजा साहब से कह लेने में कुछ हर्ज नहीं होगा कि राम जन्मभूमि और बाबरी मस्जिद का समाज की पचायत की जगह, सियासत की बदरगाह के हवाले करना इसे राम-बाबरी पार्क में नहीं, हिंदू-मुसलिम करबले में बदल छोड़ेगा। इस धार्मिक-मजहबी नासूर को दबाये या ढाके रखने में दिलचस्पी ठीक नहीं। आदमी को दावा करना ही नहीं, समय आने पर, दावा छोड़ना भी आना चाहिये।

जब भी कोई मरजी से दावा छोड़ता है, खुद के भी हक में ही छोड़ता है। जमीन हो, या मजहब, धर्म हो, या संस्कृति दावे का दोनों के हक में होना जरूरी है, क्योंकि तभी फैसला भी दोनों के हक में हो सकेगा। राम को भारत की सांस्कृतिक विरासत के रूप में देखने पर ही हल निकल सकता है, क्योंकि राम को हिंदुओं के देवता की हद तक ही महदूद देखना जितना हिंदू, उतना ही मुसलिम सांप्रदायिकता का भी सबूत होगा जरूर। कबीर मूर्ख नहीं थे। न ही उनसे ज्यादा दबंग और निर्भय-निर्वैर मियाँ शहाबुद्दीन या श्रीमान बालठाकरे माने जा सकेंगे। कबीर ने राम को ‘हिंदू राम’ की हद में नहीं देखा। नहीं तो ‘कबिरा कूता राम का’ कदापि न निकलता उनकी वाणी से और जो उनसे ज्यादा खरा या बड़ा मुसलमान होने का दावा करे, उसका मुसलमान होना भी मुश्किल ही होगा।

इतना हम जोर देकर कहना चाहेंगे कि राम जन्मभूमि और बाबरी मस्जिद के मामले में हिंदू और मुसलमान इन दो में से एक का दावा वापस होना ही एकमात्र रास्ता है। कौन कब, और कैसे करेगा यह ऐतिहासिक पहल। किसके द्वारा खत्म होगी दो में से किसी एक की हेकड़ी –यह इतिहास के गर्भ की वस्तु जरूर हो सकता है, और इतिहास जब भी संस्कृति के विपरीत चलता है, तो इसके नतीज क्या और कैसे निकलते हैं, इसके

रामायण और रामचरितमानस के सांस्कृतिक खतरे

कांग्रेस की चुनावी रणनीति में, १९८० के बाद, एक जो रोमांचक उलट-फेर साफ दिखायी दे जाता है, साम्प्रदायिक समीकरण का तावापलट- इस तावापलट का ही परिणाम है, अल्पसंख्यक की जगह, बहुसंख्यक समुदाय की तुष्टियों को प्राथमिकता । अल्पसंख्यकों की जगह बहुसंख्यकों के वोट-बैंक की साम्प्रदायिक कूटनीति के इस खुले खेल ने ही भारत सरकार के धर्मनिरपेक्षता के लबादे की हकीकत उजागर की है और उसे अनेक बार छायानटों की भाँति 'हिंदू राष्ट्र' की संकल्पना के कठघरे में तक खड़ा किया है। मगर सत्ता साम्राज्य के हाथ बहुत लम्बे हुआ करते हैं। प्रतिभा खरीदने की क्षमता उसे झूठ को कायम रखने में समर्थ बनाती है।

राज्य की यह समर्थप्रभुता उन तमाम बुद्धिजीवियों पर दोहरा दबाव बनाती है, जो झूठ-सच के भाष्य में हाथ लगाने की दायेदारी रखते हों। अल्पसंख्यकों की साम्प्रदायिक गोलबन्दी और उनके राजनैतिक दोहन में भी, बुद्धिजीवियों की एक बिरादरी व्यवस्था के झूठ पर आवरण करने में विश्वास रखती है। एक तरफ हिंदू साम्प्रदायिकता का हौवा और दूसरी तरफ सत्ताकेन्द्र के मुखौट पर धर्मनिरपेक्षता का रग-रोगन, इसी बुद्धिजीवी सम्प्रदाय का करिश्मा है। 'रामायण' और 'रामचरितमानस' से हिंदू साम्प्रदायिकता का सकट घोषित करते हुए, भारत सरकार से इनको अपने सचार-प्रसार माध्यमों में प्रमुखता न देने की सामूहिक अपीलें के पीछे भी यही दोहरा चरित्र बोल रहा है।

'रामायण' और 'रामचरितमानस' से हिंदू साम्प्रदायिकता में बाढ़ का अन्देशा ऐसे अवसरवादी बुद्धिजीवियों को दुबला कर रहा है, जो सत्ता की दलाली और समाज की अगुवाई- दोनों नावों की सवारी एक साथ चाहते हैं। ये इतना तो कहते हैं कि धर्म को राजनीति से दूर रखा जाना चाहिये- क्योंकि यही सरकार कहती है- लेकिन यह नहीं बताते कि दो में से ज्यादा विकृत कौन हो चुका- धर्म या राजनीति ? न ये इस सवाल का कोई जवाब देते हैं कि जिस देश के संविधान में ही नाना धर्मों को कानूनी मान्यता प्राप्त हो, उसकी राजनीति में से धर्म आखिर अलग होगा कैसे ?

हर दोमुँही राज्यव्यवस्था दोमुँहे बुद्धिजीवियों की जमाते तैयार करती है। ऐसे

बुद्धिजीवी, हमेशा, अर्द्धसत्यो की आँखें चेतने हैं। 'रामायण' में हिन्दू साम्प्रदायिकता को बढ़ावा मिलने और सस्कृति को खतरा हाने की यह नयी हाथ-तौबा भी इन्हीं अवसरवाद की उपज है।

अभी हाल में कुछ बुद्धिजीवियों का इस आशय का एक मयुक्त वक्तव्य अखबारों में छपा कि 'रामायण' के धारावाहिक प्रसारण से हिन्दू पुनरुत्थानवाद का खतरा सिर उठा रहा है और इससे अल्पसंख्यक वर्गों में असुरक्षा की भावना उत्पन्न हो रही है। हालांकि, चरित्र की बुनियादी खासियत के तहत स्पष्ट नहीं कहा गया कि 'रामायण' सीरियल हिन्दुओं को अल्पसंख्यक वर्गों के विरुद्ध लामबन्द कर रहा है, बल्कि 'सांस्कृतिक संकट' का तब निर्मित किया गया। सांस्कृतिक संकट से इनका मन्तव्य क्या है, शायद, वे खुद भी नहीं जानते, क्योंकि इनका उद्देश्य सस्कृति के सवाल में जाना नहीं, सिर्फ अपना हुलिया चौंका रखना है। भारत सरकार की ही तरह, खुद भी धर्मनिरपेक्षता का चादर ताने रहने की चतुरता में, इन्हें इस प्रसंग को भी उतना ही छूना है, जितने से कार्य सिद्ध हो जाय।

वे इस बुनियादी सवाल में कोई दिलचस्पी नहीं रखते कि सांस्कृतिक हो कि राजनैतिक, कोई भी संकट किन्हीं वस्तुओं से स्वतः खड़ा नहीं हुआ करता। ऐसे हर संकट के पीछे समाजविरोधी तत्व होते हैं और इनके लिये वस्तुओं को विरूपित करना बाय हाथ का खेल हुआ करता है। 'रामायण' और 'रामचरितमानस' से यदि सचमुच कोई सांस्कृतिक संकट खड़ा हो रहा है, तो इसकी पूरी जिम्मेदारी भारत सरकार पर आयेगी, क्योंकि धर्मनिरपेक्षता का 'सत्यमेव जयते' मढ़ा चमचमाता लबादा उसी के हाँदे पर झूल रहा है। 'रामायण' का प्रसारण भी सरकार की सुनियोजित सांस्कृतिक राजनीति के तहत हो रहा है। तब 'रामायण' का प्रसारण रोकने की भारत सरकार से अपील का मतलब क्या है? अगर खुद भारत सरकार नहीं, तो फिर वह हिन्दू साम्प्रदायिक सत्ता कौन-सी है, जिसके दबावों के आगे यह सम्प्रभुतासम्पन्न धर्मनिरपेक्ष समाजवादी सरकार घुटने टेके है और लाचार होकर दूरदर्शन से 'रामायण' का प्रसारण कर रही है?

सरकार के चरित्र पर उगली उठाने की जगह, ये बुद्धिजीवी 'रामायण' तथा 'रामचरितमानस' के प्रसारण को हिन्दू साम्प्रदायिकता का प्रसार घोषित करने में ज्यादा रुचि रखते हैं। अफसोस कि इसी धुरीहीन धर्मनिरपेक्ष दृष्टि का प्रतिनिधित्व कमलेश्वर ने भी किया है। उनके धर्मनिरपेक्ष सांस्कृतिक सोच के कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं।

१- 'मैं चाहता हूँ कि यह पूरा देश विद्रोह करे, एक वैचारिक विद्रोह। क्योंकि यह हमारी सस्कृति पर आक्रमण है, और यह आक्रमण दूरदर्शन के जरिये हो रहा है। एक तरफ हैं रामानन्द सागर, जो हिन्दुओं की शरीरगत 'रामायण' दूरदर्शन पर पेश कर रहे हैं और अखबारों ने खबर दी है कि प्रधानमंत्री राजीव गांधी ने उनका सम्मान अपने घर पर किया है, क्योंकि वे प्रधानमंत्री के मुताबिक- भारतीय सस्कृति को उसके सही अर्थों और सन्दर्भों में पेश कर रहे हैं। मुझे तरस आता है प्रधानमंत्री के सलाहकारों पर, जो रामानन्द सागर के सीरियल 'रामायण' को यह ओहदा दे रहे हैं। रामानन्द सागर की यह कौन-सी मजबूरी थी कि वे हिन्दुओं का इतिहास लेकर

दूरदर्शन पर आये ? और वह इतिहास, जो कि गलत, अवैज्ञानिक और पुनरुत्थानवादी है। रामानन्द सागर भाई, मेरे दोस्त, मेरे हमसफर आपका 'रामायण' धारावाहिक हिन्दुओं को गलत जानकारी देकर, उन्हें और ज्यादा तास्सुबी बना रहा है। उन्हें अतीत का वह गौरव द रहा है, जो आज कोई अर्थ नहीं रखता बल्कि हिन्दुओं की धार्मिक भावनाओं को पुख्ता करके दूसरे धर्मवालों को भड़का रहा है।'

२- 'जब रामानन्द सागर के सूर्यवंशी राजा दशरथ कहते हैं कि उनका राज्य वहाँ तक है, जहाँ तक सूर्य की किरणें जाती हैं, तो एक क्षण के लिये हम इसे काव्यात्मक उक्ति मान सकते हैं, परन्तु जब राजा दशरथ अपने राज्य की सीमाओं को बताने लगते हैं, तो वे वह भूगोल बताते हैं, जिसमें मगध-जैसे प्रान्त भी शामिल हैं, तो पूछना पड़ता है कि रामानन्द सागर वह कौन-सा इतिहास और भूगोल बता रहे हैं। जो मैं जानता हूँ कि सागर भाई ने निश्चय ही शाध की होगी, क्योंकि वे गैर-जिम्मेदार लेखक और व्यक्ति नहीं हैं, परन्तु उनकी शोध के स्रोत निश्चय ही गलत हैं, - क्योंकि किवदन्ती और पुराण को इतिहास नहीं कहा जा सकता। और जिसे इतिहास बनाकर पेश किया जा रहा है, वह इसलिये और भी खतरनाक है क्योंकि वह एक हिन्दू पुनरुत्थानवाद को जन्म दे रहा है हिन्दू गौरव, दर्प और अह की मानसिकता का निर्माण कर रहा है यह खतरनाक इसलिये भी है कि रामायण'- जैसा धारावाहिक इस याद को ताजा करता है कि इसी 'रामायण' को गोस्वामी तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' के रूप में दाबारा लिखा- उस समय, जब हिन्दू जाति पददलित थी और कि तुलसीदासकृत रामायण ने हिन्दुओं को वह मनोबल दिया, जो मुगलों ने तोड़ दिया था।'

३- 'सिर्फ ऐसा नहीं है कि लोग धारावाहिक 'रामायण' देख लेते हैं, वे उसके सन्देश पर बाद में भी बात करते हैं, जो मात्र कहानी के स्तर तक तो मामूली दिखाई देते हैं, परन्तु सांस्कृतिक अर्थों में खतरनाक हो जाते हैं। यह बात तब और खतरनाक हो जाती है, जब यह धारावाहिक उस दौर में दूरदर्शन पर आता और चलता है, जब राम-जन्मभूमि और बाबरी मस्जिद का मसला मेरठ से बतारीख आज १२३ लाशों को जन्म देता है और बुलन्दशहर, मुरादनगर, सिकन्दराबाद और गाजियाबाद से गुजरती गंगा नहर सौ से ज्यादा लाशों को बहा कर लाती है- गंगा नहर का यह पानी अब पानी नहीं है, यह खून की नहर है, जो अब जिन खेतों और फसलों को सींचेगी, वे फसलें कैसी हागी, यह सोच सकना भी भयावह है, संस्कृति की नहरें भी उसी तरह दिमागों को सींचती हैं, जैसे गंगा नहर खेतों को सींचती है और जब किसी जाति की दिमागी जमीन खून से सिंच जाती है, तो जमीन पर बहती उसकी नहरें भी खून से भर जाती हैं।'

४- 'मैं यह नहीं कहता कि रामानन्द सागर ने 'रामायण' को इसीलिये बनाया है, क्योंकि वे एक बहुत जागरूक और प्रगतिशील व्यक्ति हैं। मैं यह भी नहीं कहता कि सरकार ने इस धारावाहिक को जानबूझ कर ऐसे गलत समय पर लगाया है, परन्तु

यह मैं जरूर कहना चाहूँगा कि आधारभूत रूप से रामानन्द सागर और सरकार दोनों का फैसला ही गलत है, क्योंकि 'रामायण' एक धार्मिक पुस्तक है, एक पौराणिक पुस्तक है- वह इतिहास नहीं है और यह माना जाता है कि तुलसीकृत रामायण मुगलों के अत्याचार के दौरान हिन्दुओं की मानसिक रक्षा का कवच बन गई थी।'

'रविवार' 29 जून 1987 के अंक में 'कमलेश्वर की कलम में' कालम के अन्तर्गत प्रकाशित वक्तव्य के ये कुछ अंश हैं। इनके अलावा भी कई क्रान्तिकारी सांस्कृतिक विचार उन्होंने कुछ इस तेवर में प्रस्तुत किये हैं, जिससे धर्मनिरपेक्ष प्रधानमंत्री राजीव गांधी और बहुत ही जागरूक तथा प्रगतिशील व्यक्ति रामानन्द सागर की आँखों में पड़ वो जाले साफ हो सकें, जिनका कि हिन्दू साम्प्रदायिक शक्तियों (या व्यक्तियों) के द्वारा पूरी हिन्दुस्तानी कौम का दिल दहलाने में उपयोग किया जा रहा है।

जवाब नहीं इस वैचारिक साफगोई का, जो 'रामायण' की फिल्मी निर्माता भाई रामानन्द सागर और उनका सांस्कृतिक ओहदा प्रदान करने वाले प्रधानमंत्री को तो साफ बचा ले जाना चाहती है- कटघरे में खड़ा करती है, ऐसे अमूर्त तत्वों को, जिनकी कोई पहचान खुद कमलेश्वर को नहीं। हम उनकी स्थापनाओं का जवाब क्रमशः देना चाहेंगे।

हम जानना चाहेंगे कि अगर पूरा देश उनके मार्गदर्शन में विद्रोह करना चाहे भी, तो करे किसके विरुद्ध? विद्रोह का लक्ष्य ओझल रखकर विद्रोह का आवाहन करने का कोई मतलब नहीं हुआ करता। यह खुद हवा में तलवार भाजना और दूसरों को इस नाटक में शामिल होने का न्यौता देना है। कमलेश्वर कतई नहीं कहते कि मसले को लेकर भारत सरकार, राजीव गांधी, दूरदर्शन या कि रामानन्द सागर के विरुद्ध विद्रोह किया जाना चाहिये। वो सारी बला राजीव गांधी के सलाहकारों के मत्थे डालकर, विद्रोह का प्रसंग समाप्त कर देते हैं।

अभी कुछ अरसा पहले कमलेश्वर राजीव गांधी को देश के सर्वाधिक योग्य प्रधानमंत्री का ओहदा दे चुके हैं। आश्चर्य कि देश का सबसे योग्य और समर्थ राजनैतिक व्यक्ति अपने सलाहकार चुनने के मामले में इस कदर लापरवाह है। स्पष्ट है कि 'मुझे तरस आता है' कहकर, कमलेश्वर ज्यादा से ज्यादा दरबार में परिवर्तन की माँग उपस्थित कर रहे हैं। यानी कुछ सलाहकारों को हटाने, कुछ को भर्ती करने की माँग। यहाँ हम, अपनी ओर से, कमलेश्वर भाई का नाम प्रस्तावित करना चाहेंगे, क्योंकि उनके और राजीव गांधी के सोच में गजब की सांस्कृतिक एकरूपता है। दोनों ही साम्प्रदायिक ताकतों को भारत सरकार से बाहर देखने-दिखाने के मुरीद हैं। दोनों की सांस्कृतिक समझ एक अफसोसनाक शून्य के सिवा और कहीं नहीं पहुँच पाती है।

'रामायण' को 'हिन्दुओं की शरीयत' घोषित करने वाले कमलेश्वर बतायेंगे कि 'रामायण' में किन हिन्दू निजी कानूनों की व्यवस्था की (और कि उनमें से कितनों को वर्तमान प्रधानमंत्री, या उनके पूर्वज सत्ताधिकारियों के द्वारा भारतीय संविधान में मान्यता दिलवाई) गई है?

हवा में तलवार भाजने से भी कहीं ज्यादा हास्यापद स्थिति होती है, हवा में वैचारिक विद्रोह खड़ा करने की। 'रामायण' को 'हिन्दुओं की शरीअत' करार देना खुद की समझ का दीवाला घोषित करना है। दीवालिये को कोई सकट नहीं रह जाता। सारी जवाबदेहियों और जिम्मेदारियों से पल्ला झाड़कर अलग खड़ा हो जाने के लिये ही तो कोई खुद को दीवालिया घोषित करता है। जितनी हिकारत कमलेश्वर भाई में 'रामायण' और 'रामचरितमानस' के प्रति है, अगर तुलसीदास को इस्लाम, कुरान या मुसलमानों से होती, तो वो माग के खाने के बाद मस्जिद में सो रहने की बात नहीं करते। हिन्दू कठसिद्धान्तियों से जो मोर्चा तुलसी ने लिया, कमलेश्वर भाई और हम उसकी, शायद, ठीक-ठीक कल्पना भी नहीं कर पायेंगे। तुलसी साम्प्रदायिक कट्टरता नहीं, एक विराट सांस्कृतिक-सामाजिक संवेदना और चेतना के महाकाव्यकार हैं। उन्हें देश की संस्कृति का शत्रु वही घोषित कर सकता है, जिसे कि महाकाव्यात्मक संवेदना और बौद्धिक मत्सर के बीच कोई फर्क नहीं दिखायी पड़ता हो। 'रामायण' या 'रामचरितमानस' अगर हिन्दू शरीयत होते, तो इन पर लानत फेंककर हिन्दू बने रहने की कोई गुन्जाइश नहीं होती। कमलेश्वर हिन्दू और देश की संस्कृति की निहायत ही भोड़ी तथा विकृत समझ से ग्रस्त हैं। देश की संस्कृति में, वाल्मीकि और तुलसीदास की अपेक्षा, उन्हें खुद का सांस्कृतिक योगदान ज्यादा दिखाई देने लगा है, तो उनके इस हाल पर सचमुच सिवा तरस खाने के, और किया भी क्या जा सकता है।

'रामायण' भारतवर्ष का संवेदनात्मक महाकाव्य और भारत की सांस्कृतिक पहचान का आदिग्रन्थ है। कमलेश्वर बतायेंगे कि 'रामायण' के किन नियम-कानून सिद्धान्तों या आचार-विचार का पालन नहीं करने पर किसी हिन्दू को हिन्दू धर्म से बाहर कर दिया जाएगा ? जिस 'हिन्दू शरीयत' की बात कमलेश्वर उठा रहे हैं, वह उनके राजनैतिक आदर्श प जवाहरलाल नेहरू से लेकर राजीव गांधी एण्ड कम्पनी की देन है। 'हिन्दू शरीयत' ('रामायण' या 'रामचरितमानस' नहीं) मुस्लिम सिख, पारसी, ईसाई शरीयतों के साथ, 'भारतीय संविधान' के पृष्ठा में कुण्डली मारे बैठी है। कमलेश्वर गीदड़ का शर की मद में खोज रहे हैं। 'हिन्दू काडबिल काग्रेसी हुक्मत' की देन है, 'रामायण' की नहीं। उन्हें कौन समझाये कि धर्मनिरपेक्ष बुद्धिजीविता का प्रदर्शन यदि सोच-विचार से ही निष्पक्षता की सरहद छूने लगे, तो इसे किसी राजीव गांधी- जैसे वैचारिक दीवालिये के यहाँ ही मान्यता मिल सकेगी, प्रबुद्ध लोगों में नहीं। 'रामायण' को 'मुस्लिम शरीयत' के बरअक्स 'हिन्दू शरीयत' कहना संस्कृति, साहित्य और विचार की समझ से शून्य होने का सबूत पेश करना है।

कमलेश्वर बतायेंगे कि 'रामायण' सीरियल प्रस्तुत करते हुए, हिन्दुओं का इतिहास बता रहे होने का दावा कहाँ किया है रामानन्द सागर या राजीव गांधी ने ? जब कमलेश्वर ने इतना बाकायदे मान लिया कि 'रामायण' सीरियल रामानन्द सागर ने कर्ज से उबरन के लिये तैयार किया,^१ तब इसमें अचानक 'हिंदू पुररुथानवाद' का लक्ष्य कहाँ से आ गया ?

दूसरे जब दावा हो कि 'रामायण' एक पौराणिक आख्यान मात्र है, तब उसके इतिहास (भी) होने का आरोप क्यों ? और कमल कि रामानन्द भाई 'रामायण' को हिन्दू इतिहास और 'हिन्दू शरीयत' में बदलकर भी कमलेश्वर के प्यारे भाई, दोस्त और बेहद जिम्मेदार प्रगतिशील हमसफर ही हैं। जबकि उनका 'रामायण' सीरियल हिन्दुओं को एक-के-बाद अनेक ऐसी गलत जानकारियाँ दिये ही चला जा रहा है, जिससे न सिर्फ यह कि पहले से ही कट्टर धार्मिक हिन्दू और ज्यादा ताम्बुबी हिन्दू बनते, बल्कि दूसरे धर्म वाले भी भड़कते जा रहे हैं।

यहाँ भी कमलेश्वर हमें कुछ नहीं बताते कि हिन्दुओं की धार्मिक भावनाओं के पुख्ता होने पर दूसरे धर्मों के लोगो के भड़क उठ होने की दलील से आखिर वो हमें समझाना क्या चाहते हैं ? जिन मुसलमानों के मजहबी जज्बात 'कुरान' पढ़ने से पुख्ता होते हों, क्यों न उन्हें भी दूसरे धर्मों के लोगो को भड़का रहे होने के जुर्म में सम्मन जारी कर दिया जाए? धार्मिक भावनाओं का पुख्ता होना ही अगर साम्प्रदायिक जहर्बाद की जड़ हो, तब सिर्फ हिन्दू ही क्यों, अन्य धार्मिक समुदायों के भी उन तमाम धार्मिक ग्रन्थों को क्यों नहीं साम्प्रदायिक करार दिया जाये, जिनसे किसी समुदाय के लोगो की धार्मिक भावनाएँ पुख्ता होती हो ?

भाई रामानन्द सागर से पहले, थोड़ा खुद के गिरेबान में भी झाँक लिया होता, कमलेश्वर भाई, तो कुछ बुरा न होता। कुरान से मुसलमानों बाइबिल से ईसाइयाँ, जाबेस्ता से पारसियों और गुरुग्रन्थ साहब से सिखों की धार्मिक भावनाएँ पुख्ता होती हैं कि नहीं ? तब ये सारे ग्रन्थ हिन्दुओं की धार्मिक भावनाओं को भड़काने वाले तत्वों में शुमार क्यों न कर लिये जाएँ ? या कि सस्कृति का सकट अथवा साम्प्रदायिकता का खतरा सिर्फ हिन्दुओं की धार्मिक भावनाओं के पुख्ता होने पर ही उत्पन्न होता है ?

कमलेश्वर का सारा वैचारिक प्रलाप, इतिहास तथा सस्कृति की गलत समझ की उपज है। सत्ता के सास्कृतिक गलियारों की पूर्व-यात्राओं ने उनकी समझ को काँठ कर दिया है। धर्मनिरपेक्ष बौद्धिकता के मुगालते में बड़े-बड़े सास्कृतिक-वैचारिक सवालों को उठा रहे होने की जो भ्रांति वो निर्मित करना चाहते हैं, यह उस पूरे खोखल को उजागर कर रहा है, जो सत्ताकेन्द्र के परकोटा के भीतर की परिक्रमाओं के दौर में निर्मित हुआ है।

कमलेश्वर भाई की जानकारी के लिये इतना बताना जरूरी होगा कि पुराण और किवदन्तियों को भी देश में ही स्थान हुआ करता है। आदमी का कुछ भी एक निश्चित देश, काल और समाज में घटित होता है। भूगोल देश के बाहर की चीज नहीं। न इतिहास, विज्ञान या सस्कृति। भाई रामानन्द सागर के दशरथ ने जो भौगोलिक स्थान अपने राज्य में बताये वहाँ क्या सूर्य की किरणों की पहुँच नहीं ? जब जहाँ तक सूर्य की किरणें जाती हैं वहाँ तक का राज्य महाकाव्यात्मक उक्ति माना जा सकता है, तो राज्य के भूगोल में ही ऐसी क्या खराबी आ गई कि उसे हिन्दू साम्राज्य के इतिहास के पुनरुत्थान की साजिश के

मिवा और कुछ भी नहीं माना जा सकता ?

इतिहास की निहायत सतही समझ ही कमलेश्वर को इतिहास की तारीखी हदों से बाहरें झोंकन में असमर्थ बनाती है। ऐतिहासिक प्रमाण ही आत्यंतिक प्रमाण नहीं हुआ करते हैं। वस्तुओं का होना स्वयं में ही प्रमाण है। इतिहास के सीमित दायरे मनुष्य के ज्ञान-विज्ञान या संस्कृति के निषेध में इस्तेमाल नहीं किये जा सकते। आदमी का जाने कितना बड़ा संसार इतिहास की चारदीवारियों के बाहर है।

इतिहास से भी कहीं ज्यादा मूल्यवान होती हैं वो निधियाँ, जो इतिहास की बैसाखी के बिना ही मानव समाज का एक शाश्वत हिस्सा बन जाती हैं। जो अपना प्रमाण स्वयं हो, उसे इतिहास से ऊपर मान लेने में ही समझदारी है, इतिहास से बाहर करने में नहीं, क्योंकि ऐसी वस्तुओं को इतिहास से बाहर करने के चक्कर में आदमी अक्सर खुद को समझदारों की विरादरी से बाहर कर लेता है, जो कि वृहत्तर मानव समाज का अपरिहार्य अंग बन चुकी हो।

संस्कृति की पहली पहचान मानव समाज की जातीय अस्मिता और अवधारणा की पहचान में है। एक वृहत्तर मानव समाज की जातीयता देश के भूगोल और इतिहास के सारभूत तत्वों को अपने में अन्तर्लपित करते हुए निर्मित होती है। संस्कृति जातीयता की राष्ट्रीय धरोहर हुआ करती है। भारतीय संस्कृति की अनन्य विशिष्टता ही इस तथ्य में है कि यहाँ राष्ट्रीय जातीयता का सवाल सारी साम्प्रदायिक जातियों से ऊपर रहा है।

धर्म स्वयं में साम्प्रदायिक तत्व नहीं, बल्कि मनुष्य की आध्यात्मिक-सामाजिक भावनाओं का प्रतीक है। यही भारतीय संस्कृति का सारतत्व है। कमलेश्वर की देश की, संस्कृति की अवधारणा क्या है, कुछ स्पष्ट नहीं। वो प्रायः संस्कृति में प्रक्षिप्त उन विकृतियों को 'छायादार सांस्कृतिक टुकड़ों' का दर्जा देते पाये जाते हैं, जो किसी बड़ी नदी की तरफ निकाले गये पनालों से ज्यादा कुछ नहीं हुआ करते। समझदार को चाहिये कि वह वस्तु नहीं, बल्कि वस्तु को विकृत करने वालों पर उगौली उठाये।

समझना मुश्किल है कि 'रामायण' और 'रामचरितमानस' से किस देश की संस्कृति को सकट होने का रोना रो रहे हैं, कमलेश्वर ? भारत की संस्कृति को तो कुरान, बाइबिल, गुरुग्रंथ साहब या जावेस्ता वगैरा नाना धर्मग्रन्थों के अनवरत पाठ से भी कभी कोई सकट नहीं हुआ। धर्म की भिन्नता से कोई सकट न होने के वैचारिक औदात्य का ही नाम है, भारतीय संस्कृति। और 'रामायण' इस संस्कृतिबोध का आदि महाकाव्य है कि सारी वस्तुओं से ऊपर है, संवेदना और करुणा। 'रामायण' से संस्कृति को सकट होने की बात कहकर कमलेश्वर किस वैचारिक विद्रोह की अगुवाई करना चाहते हैं ?

रामायण के 'रामचरितमानस' के रूप में दोबारा लिखे जाने को खतरनाक घोषित करना भी कुछ कम खतरनाक नहीं कमलेश्वर भाई। जब आपने मान लिया कि 'रामायण' को 'रामचरितमानस' के रूप में तुलसीदास ने उस समय दोबारा लिखा जब

हिन्दू जाति पददलित थी- और कि 'तुलसीदासकृत रामायण' ने हिन्दुओं को वह मनोबल दिया, जो मुगलों ने तोड़ दिया था- तो इससे आखिर कुल मिलाकर कहना, या सिद्ध क्या करना चाहते हैं आप ?

क्या यह कि चूँकि हिन्दू जाति का खुद को पददलित होने से बचाने का संघर्ष ही अपने-आप में अवैज्ञानिक और इतिहास, या संस्कृति-विरोधी था, इसलिये 'रामचरितमानस' भी स्वतः ही इतिहास, विज्ञान तथा संस्कृति-विरोधी हो गया ? या हिन्दुओं को टूटन और परास्तता की भावनाओं से उबारना अथवा मुगलों के अत्याचारों के दौरान हिन्दुओं की मानसिक रक्षा का कवच बन जाना, कोई सांस्कृतिक गुनाह है ?

उनके कथन से साफ झलकता है कि भारत के सम्पूर्ण रूप से मुगल सल्तनत में अन्तर्लयन और हिन्दुओं के इस्लाम में पूरी तरह धर्मान्तरण की प्रक्रिया में वाल्मीकि और तुलसीदास के द्वारा डाल दी गई बाधाओं का, उनको मुगल शहशाहों से भी ज्यादा अफसोस है । 'रामायण' और 'रामचरितमानस' पर जितना अफसोस और एतराज कमलेश्वर भाई को है, इतना अगर मुगल शहशाह अकबर को हुआ होता, तो तुलसीदास 'रामायण' को दोबारा मुगल शहशाह के चहेते अलम्बरदार राजा टोडरमल की छत्रछाया में निर्विघ्न लिख नहीं पाते । न दाराशिकोह को 'रामायण' पढ़ सकने की आकांक्षा में संस्कृत सीखने वाराणसी जाने की जरूरत पड़ती ।

'रामायण' और 'रामचरितमानस' से 'हिन्दू पुनरुत्थानवाद' का खतरा होने के अन्देशों का कारण खोजना भी कठिन है, क्योंकि अगर इसके पीछे हिन्दू राष्ट्र या 'हिन्दू साम्राज्यवाद' का महास्वप्न बालठाकरे अथवा बाला जी देवरस प्रभूति हिन्दू पुनरुत्थानवादी देख भी रहे हैं, तो यह पूरा होगा कैसे ? भारतीय इतिहास ही क्यों, पौराणिक मिथकों में भी हिन्दू साम्राज्यवाद का कहीं कोई वजूद नहीं रहा है, हिन्दू खुद का स्वराष्ट्र ही बरकरार नहीं रख पाये, साम्राज्यवाद की तो कौन कहे ।

दरअमल कमलेश्वर शब्दों को खुद के मन्तव्य में चलाते हैं, उनके वस्तुगत अर्थ में नहीं । अन्यथा कौन नहीं जानता कि पुनरुत्थानवाद का मतलब पुराने साम्राज्यवाद का पुनर्स्थापन नहीं, बल्कि अपने जातीय अथवा राष्ट्रीय गुण-दोषों का पुनर्मूल्यांकन होता है ।

पुनरुत्थान की अवधारणा सिर्फ राजगद्दी के पायों तक सीमित नहीं । इसके तार किसी देश के समस्त ग्राम-जिन्नाम-नृत्ति-अन्त क्षेत्रों तक भी जाते हैं । फ्रांस का पुनर्जागरण काल लुइसों की राजगद्दी पुख्ता करने का काल नहीं माना जाता है । न राजा राममोहन राय दयानन्द सरस्वती या रामकृष्ण, विवेकानन्द-बकिम- सुब्रमण्यम भारतीय का पुनर्जागरण 'हिन्दू तख्त' की संकल्पना का प्रतीक रहा है । समझना मुश्किल है कि 'हिन्दू पुनरुत्थानवाद' का खतरा घोषित करके कमलेश्वर हमें समझाना क्या चाहते हैं ।

हिन्दू साम्प्रदायिकता का वह कौन-सा दौर रहा है इतिहास में जिसे अब हिन्दू फिर से वापस लाना चाहते हैं ? जबकि हकीकत है यह कि हिन्दू साम्प्रदायिकता का सारा

मिलमिला उस मुस्लिम साम्प्रदायिकता की उपज है, जो देश के ऊपर मजहब को रखकर पाकिस्तान का नक्शा तैयार कर चुका। देश का विभाजन 'रामायण' या 'रामचरितमानस' के आधार पर नहीं हुआ। हिन्दू साम्प्रदायिकता कोई पौराणिक या परम्परागत वस्तु नहीं। हिन्दू-मुस्लिम या सिख, प्रत्येक साम्प्रदायिकता के बीज ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने बोये और उसके विरासतदार इस फसल को पकाने और बटोरने का धधा कायम रखे हुए हैं। अफसोस कि कमलेश्वर भाई को 'रामायण' और 'रामचरितमानस' में तो हिन्दू साम्प्रदायिकता और देश की संस्कृति को सकट के बीज बिल्कुल साफ-साफ दिखाई दे जाते हैं, लेकिन कांग्रेसी हुकूमत धर्मनिरपेक्ष दिखती है।

अपनी इस खोखल राजनैतिक-सांस्कृतिक समझ के तहत ही कमलेश्वर उस सत्ताकेन्द्र से साम्प्रदायिक दलों पर प्रतिबन्ध लगाने की माँग करते हैं, जो कि सारे साम्प्रदायिक उपकेन्द्रों का मुख्यालय है। जिसने कि सुनियोजित साजिश के तहत देश की जनता को साम्प्रदायिक-आर्थिक मनोन्माद की दिशा में धकेल दिया है, ताकि उसकी सामाजिक-आर्थिक संघर्ष की चेतना का कुचला जा सके।

'दाना दुश्मन अच्छा, नादान दोस्त बुरा' यो ही नहीं, अनुभव से कहा गया। अल्पसंख्यक वर्गों का धर्मनिरपेक्ष खुदाई खिदमतगार बनने के चक्कर में कमलेश्वर भाई ने मुगल शासकों के उस पूरे राजनैतिक सोच का भी भट्ठा बिठा दिया, जो गंगा-जमुनी संस्कृति का बुनियादी आधार रहा है। राणा प्रताप का मनोबल 'रामचरितमानस' के तोतापाठ के बाद की वस्तु नहीं। कुछ हैं हिन्दुओं में, जिसे किसी भी हाल में नहीं तोड़ा जा सकता, बल्कि इगम्ये जोड़कर ही मुगल सल्तनत को भी एक सुरक्षा कवच दिया जा सकता है, इस समझ ने ही मुसलमानों की हिन्दुओं से सहभागिता के रास्ते खोले और गंगा-जमुनी संस्कृति का प्रवाह तीव्र किया। एक म्यान में की दो तलवारों नहीं, बल्कि एक देश के बाशिन्दों की तरह हमें रहना है यह राजनैतिक-सामाजिक सोच ही हिन्दू-मुस्लिम एकता और सहभागिता का आधार रहा है और इससे विपरीत सोच ही हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक झगड़-फिसादा की जड़। अफसोस कि कमलेश्वर भाई का सोच दूसरी तरह का है।

एक नहीं सैकड़ों हजारों उदाहरण हैं मुसलमानों के द्वारा 'रामलीला' में हिस्सा लिये जान के ओर इससे कभी कोई सांस्कृतिक सकट उत्पन्न नहीं हुआ। कमलेश्वर भाई कहना क्या चाहते हैं ? 'रामायण' और 'रामचरितमानस' का प्रसारण बन्द हो जाने से हिन्दू साम्प्रदायिकता के सारे खतरे जाते रहेगें ? और 'दूरदर्शन' से 'अल्लाह तू दिखा दे करिश्मा कुरान का।' का प्रसारण होता है इसके बारे में क्या विचार है उनका ?

दरअसल हिन्दू-मुस्लिम सौहार्द के रास्ते काँटे हैं ऐसे साम्प्रदायिक सोच वाले तथाकथित धर्मनिरपेक्ष बुद्धिजीवी जो विभिन्न धार्मिक समुदायों को एक दूसरे के धार्मिक विश्वासों, मूल्यों और परम्पराबाध के विरुद्ध तूफान उठाने की सलाह देने का बौद्धिक धधा चलाते जा रहे हैं। जबकि भारतीय संस्कृति का मूल आधार एक-दूसरे के धर्म, मूल्य और

विश्वासों के प्रति सहिष्णुता ही नहीं, समादर की भावना है। मनुष्य स्वयं के साक्षात्कार के लिये स्वतंत्र है। उसकी उपासना-पद्धति क्या हो, यह पशुबल से तय करने की वस्तु नहीं, इस वैचारिक उदारता का ही नाम रहा है- भारतीय सस्कृति^१। कमलेश्वर का सस्कृति-बोध भारत सरकार, या कहे कि राजीव गांधी, के सस्कृतिबोध से ज्यादा दूर नहीं। फर्क सिर्फ इतना है कि एक सस्कृति के राजनैतिक इस्तेमाल में माहिर और समर्थ है- दूसरा सिर्फ झूठे और नकली विद्रोह का हवाई झण्डा धुमाने में।

सवाल है यह कि जिस दौर में 'रामायण' का धारावाहिक प्रसारण हो, उसी दौर में यदि १२३ लाशों का मेरठ शहर और गगनहर में जन्म हो रहा है, तो इससे साबित क्या होता है? क्या यह कि देशकी धर्मनिरपेक्ष सरकार हिन्दू-मुस्लिम सौहार्द के लिये प्राण-प्रण से जूझ रही है, लेकिन 'रामायण' का प्रसारण उसकी सारी धर्मनिरपेक्ष योजनाओं तथा प्रशासनिक अव्यवस्थाओं की धज्जिया उड़ाता हुआ, मुसलमानों की लाशों को जन्म दिये जा रहा है ?

और कि अगर, दूसरी तरफ, बाबरी मस्जिद का सवाल इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ मेडिकल साइंस में उठाने वाले दाढ़ीजार हाजियों^१ की जमात हिन्दुओं के खून की हाली खेल रही हो, तो भी यज्ञोपवीत, तिलक और कलश की राजनीति खेलने वाला, बेचारा धर्मनिरपेक्ष प्रधानमंत्री सिवा टुकुर-टुकुर ताकने के और कुछ नहीं कर पाता है ?

कमलेश्वर अपने प्रगतिशील हमसफर रामानन्द भाई और धर्मनिरपेक्ष प्रधानमंत्री का साफ बचाते हुए, साम्प्रदायिक दगों की बला तास्सुबी हिन्दुओं और हाजियों के गले मढ़ देते हैं। जबकि सारे तास्सुबी साम्प्रदायिक तत्व कांग्रेसी सत्ताकेन्द्र के छायादार टुकड़ा के भरोसे ही फल-फूल रहे हैं। इस दृष्टि से 'भारतीय संविधान' विशाल साम्प्रदायिक वटवृक्ष से कम नहीं। जिन छायादार सांस्कृतिक टुकड़ों का जिक्र कमलेश्वर कर रहे हैं, वे 'रामायण' या 'रामचरितमानस' के सांस्कृतिक टुकड़े नहीं, बल्कि बहुधर्मी सत्ताप्रतिष्ठान के राजनैतिक मायाजाल के साम्प्रदायिक टुकड़े हैं।

सस्कृति आदमी के सवेदनत्र को जरूर वैसे ही सींचती है, जैसे कोई नदी धरती को, लेकिन तभी, जब सस्कृति की समझ विकृत और विरूपित न हो। जब चतुरता और सस्कृतिबोध का काढ़ा तैयार करने की नीम-हकीमी से बचने का विवेक रहे। सरकार को

१- 'यह मैं नहीं कह रहा- यह बात मैंने दिल्ली के आल इण्डिया इन्स्टीट्यूट मेडिकल साइंसेज के परिसर में सुनी थी, जहाँ लोगों के झुंड दरियाँ उठाये चिलचिलाती धूप में छायादार टुकड़े खोज रहे थे। वे लोग अपनी दिमागी राहत के लिये ऐसे ही छायादार सांस्कृतिक टुकड़े भी तलाशते हैं। और वही, उसी परिसर के कारपार्किंग वाले टापू में बैठे एक दाढ़ीवाले हाजी जी अपने चार साथियों को बता रहे थे- 'मौलवी साहब कहते थे कि बकरीद के मौक पर बकरे को हलाल भी खुद करना चाहिये, क्योंकि यह सुन्नत है। इससे खुदा के रामने पर खून बहाने का जज्बा और हिम्मत पैदा होती है।'

साम्प्रदायिकता के कठघरे से बाहर खड़ा करके, 'रामायण' और रामचरितमानस को संस्कृति के लिये सकट घोषित करने का वैचारिक अभियान चला रहे कमलेश्वर भाई से रामानन्द भाई तो, शायद, नहीं, लेकिन हम जरूर पूछना चाहेंगे कि आखिर किस सांस्कृतिक सकट की बात कर रहे हैं वो ?

जहाँ तक साम्प्रदायिक विद्वेष का सवाल है, इस काम में कमलेश्वर शहाबुद्दीन या बालठाकर से ज्यादा दूर नहीं रह गये। दूसरों के धार्मिक विश्वासों और संवेदन के प्रति एक उद्विग्नता बौद्धिक उत्तेजना उनमें भी बिल्कुल मौजूद है। फर्क इतना जरूर है कि मियाँ शहाबुद्दीन और आर्य बालठाकरे की साम्प्रदायिक घृणा सचमुच खतरनाक है, लेकिन कमलेश्वर भाई की तास्सुबी बौद्धिक उत्तेजना सिर्फ हवाई।

वह इस हकीकत से बेखबर रहना (या रखना ?) चाहते हैं कि देश की तथाकथित धर्मनिरपेक्ष राज्यव्यवस्था ब्रिटिश साम्राज्यवाद के उत्तराधिकार में कायम व्यवस्था है। विभिन्न धार्मिक समुदायों को आपस में लड़ाकर खुद की चौधराहट को निर्विघ्न रखने की कृत्नीति का प्रतिरोध लोगों के बीच एक-दूसरे के धार्मिक-जातीय विश्वासों और मूल्यों के प्रति सहिष्णुता की भावना जगाकर ही किया जा सकता है, एक-दूसरे की भावनाओं के प्रति असहिष्णु बनाकर नहीं। जब सरकार को यह पता चले कि हिन्दू धार्मिक विश्वासों को मुसलमान और मुस्लिम रीति-रिवाजों या मजहबी जज्बातों को हिन्दू पूरी तरह सम्मान देने लगे हैं और कैसे भी भव्य-रंगारंग धार्मिक प्रसारणों से लोगों में कोई सामुदायिक विद्वेष नहीं फैलाया जा सकेगा, तो उसकी सारी दूरदर्शनी सांस्कृतिक परियोजनाओं के परखच्चे खुद ही उड़ जायेंगे।

अल्पसंख्यकों में बहुसंख्यकों और बहुसंख्यकों में अल्पसंख्यकों के धार्मिक विश्वासों के प्रति असहिष्णुता की भावनाओं को भड़काना ही भारतीय संस्कृति के लिये सकट खड़ा करना है। भारतीय संस्कृति का सारतत्त्व निषेध नहीं, समभाव है। भारतीय संस्कृति नाना धार्मिक सामाजिक मूल्यों और विश्वासों के समन्वय की संस्कृति है। भारत सरकार की धर्मनिरपेक्षता की तो बात ही व्यर्थ है क्योंकि वह तो अपने संवैधानिक रूप तक में साम्प्रदायिक है। भारतीय संस्कृति में ऐसी गुंजाइश बिल्कुल रही है कि धर्म आदमी की बाधा नहीं बने। लेकिन संस्कृति, इतिहास अथवा ज्ञान-विज्ञान की समझ से निरपेक्ष रहकर भी कोई व्यक्ति अपने वैचारिक विद्रोह में पूरे देश को शामिल कर ले जाय, ऐसा उदाहरण ढूँढना जरूर मुश्किल होगा।

फिर भी इतना तो हम भी जरूर जानना चाहेंगे कि आखिर भारतीय संस्कृति का वह कौन-सा वैज्ञानिक-ऐतिहासिक स्वरूप है, जिसमें कि रामायण और रामचरितमानस के लिये कोई स्थान नहीं होगा ? और कि तास्सुबी होने, संस्कृति को सकट खड़ा करने से बचने के लिये हिन्दुओं को रामायण, रामचरितमानस के अलावा और किन-किन इतिहास तथा संस्कृतिविराधी वस्तुओं का परित्याग करना जरूरी होगा ?

कमलेश्वर यह नहीं कहते कि रामायण और रामचरितमानस का प्रसारण सरकार-

द्वारा हिन्दू पुनरुत्थानवाद को जगाने तथा हिन्दुओं को मुसलमानों के विरुद्ध उकसाने के लिये इन्हे साम्प्रदायिक रूप देकर किया जा रहा है। भाई रामानन्द सागर और राजीव गांधी तो अपने आधारभूत रूप से गलत फैसलों के बावजूद प्रगतिशील और धर्मनिरपेक्ष हैं। लगता है, कमलेश्वर भाई को साम्प्रदायिक दंगों को रोकने का एक ही रास्ता सुझाई दे रहा है- 'रामायण' के धारावाहिक प्रसारण को रोक दिया जाना ? किन्तु सवाल फिर यही है कि रामायण का प्रसारण करा कौन रहा है- बालठाकरे, बालासाहेब देवरस या कि राजीव गांधी ?

धर्मनिरपेक्ष वैचारिक विद्रोह के सदस्य मे ये कुछ सवाल नितात स्वाभाविक और जरूरी होंगे। बिना इन सवालों का जवाब दिये रामायण और रामचरितमानस को हिन्दू साम्प्रदायिकता का मूल और देश की संस्कृति के लिये संकट साबित करना उतना आसान तो नहीं ही होगा, जितना कि शायद कमलेश्वर भाई समझ बैठे हैं। अब उन्हें कौन समझाये कि हवाई वैचारिक विद्रोह की धुंध ज्यादा दूर या दर तक साथ नहीं दे पाती।

['अभिप्राय' १६८७]

चिट्ठी-पत्री

राजेन्द्र यादव

२/३६, असारी रोड, दरियागज,
दिल्ली।

२२ अप्रैल १९८८

प्रिय शैलेश,

मैं बाहर चला गया था, इसलिए तत्काल उत्तर नहीं दे पाया। टिप्पणी मिल गई है और यथावत छपेगी, लेकिन उससे तुम्हारी बुद्धि पर तरस आने की स्थिति नहीं बदली है। धौं-धौं लिखते चले जाने के सन्निपात में तुम कितने एकागी और वास्तविकता-विरोधी हो, वह दयनीय है। 'राम महान हैं' के अतिउत्साह और धार्मिक श्रद्धाभाव में क्या यह बताना जरूरी है कि शबरी के बेर खाने या सीता के विरह में विलाप करने की मानवीयता कृष्ण में कहीं नहीं है ? दुनिया का सर्वश्रेष्ठ बाल-साहित्य जिस व्यक्ति के साथ जुड़ा है, राधा और कृष्ण के समपण-प्यार-विरह के सर्वोत्कृष्ट गीत, भक्ति, अध्यात्म का जो एकमात्र आधार है और जिसे हटाने पर सारा भारतीय-साहित्य सिर्फ भूसा रह जाता है, हों उसको राम के विलाप की तुलना में तुम-जैसा दुराग्रही ही उड़ा सकता है। कहाँ जाएंगे मीरा, सूरदास, चैतन्य, विद्यापति ? और हजारों आँसू रोने वाले लोग ? सचमुच अब बुढ़ापा तुम्हारी समझ का भी आक्रान्त करने लगा है। तुम्हारा भगवान तुम्हारे ज्ञानचक्षु खोले, इसी कामना के साथ।

सस्नेह,

राजेन्द्र यादव

['किम्बे राम, कैसे राम' लेख के सदर्थ में]

इलाहाबाद २१ मई, १९८८

राजेन्द्र भाई,

आपका २४/४ का पत्र पहुँचते ही देख लिया था। सच मानिये, बुद्धि पर तरम खाने वाले लोग जाने क्यों बहुत अपने लगते हैं। प्रारम्भ में यह बात नहीं थी। बुद्धि है, यह भ्रम साथ चलता था। ज्यो-ज्यो विराट से पाला पड़ता गया, निर्बुद्धि होने का अहसास भी गहरा होता चला। कहिये कि हिन्दी में 'सब चलता है' का उदारपथ कायम है, अन्यथा मुझ-जैसे सामान्य से भी गयी-बीती बुद्धि के व्यक्ति को साहित्य में कहाँ इतनी भी जगह होती।

जाने कैसे चल गया इतनी दूर तक खोटा सिक्का। साहित्य ही नहीं, आदमी सम्बन्धी ज्ञान भी शर्मनाक हद तक उथला है, ऐसा स्वीकारने में अब कोई सकोच नहीं। अलबत्ता अब आखिरी दिनों में कोई नया रोजगार बस की बात नहीं। इसलिये, दिन यही काटने हैं। रोटी भी इधर से ही चलानी है। कुदबुद्धि होने के स्वीकार के साथ, हिमालय की तरफ चल देने का न विवेक है, न ऐसी सहूलियत।

एक लेखक के सघर्ष, ज्ञान और चरित्र की जो अवधारणा सामने रही, उससे कोसों नहीं, योजनाएँ दूर होने का अहसास जरूर है। थोड़ा-बहुत अज्ञान का ज्ञान भी। प्राचीन वाङ्मय, इतिहास, भूगोल, समाजशास्त्र, दर्शन, राजनीति, कला, विज्ञान, साहित्य और भाषा आदि ज्ञान की शाखाओं के मामले में शाखामृगों से भिन्न हालत नहीं। शायद, इसी से उछल-कूद और उद्दण्डता ज्यादा है और विचारवान, गहरे अर्थों में बौद्धिक व्यक्तियों की कोटि की गरिमा, सतुलन और विनय का अकाल होने से, एक अधिकचरापन भी सतत विद्यमान, लेकिन जैसा कि आपने भी लिखा- बुढ़ापे में ज्ञानचक्षु खुले भी हरिकृपा से, तो अब होना-जाना क्या है। हालाँकि आदमी तय कर ले, तो आखिरी वक्तों में भी मुसलमान होकर दिखा सकता है, लेकिन यहाँ तो सहस्रार कमल सूख चला और स्मृति-निर्झरिणी झर चुकी है। कभी थी, अब ज्यादा उम्मीद नहीं। लेकिन इस सारे आत्मस्वीकार का मतलब यह नहीं कि बस्ता समेटने का मन बना लिया।

दरबार साहब, कोई स्वेच्छा से नहीं छोड़ता। हाजिरी-रजिस्टर में से नाम तो खुद आपको ही हटाना होगा, क्योंकि हमारे लेखे निर्बुद्धि होने का मतलब मौजूद रहने का हक खो बैठना नहीं। हम तो यही मानते आये कि मूरख को विद्वानों के इर्द-गिर्द ही घुसपैठ रखनी चाहिये, क्योंकि रहना उन्हीं के बीच भला, जहाँ खुद का साक्षात्कार सम्भव हो। आप तो कृष्णभक्ति काव्य के महामहोपाध्याय हैं। जानते होंगे कि सतकविखुद का जड़-मूरख परम सत्ता के और नजदीक घुसपैठ करने के निमित्त ही घापित करत थे।

सोचिये, तो अच्छा ही हुआ कि हम भी आपकी भाँति बुद्धिमान नहीं हुए, नहीं तो जनवादी लेखक सघ की कार्यकारणी समिति को यह सकट होता कि किस चुनें, अपना अखिल भारतीय उपाध्यक्ष। खुदा ने हमारे ज्ञानचक्षु नहीं उघाड़े, इसमें कुछ बुरा न हुआ।

बिना गवाही के कुछ पक्का नहीं। हम कहें भी कि बुद्धिमानी हम में भी कम नहीं, तो

लोग दन्न से सवाल दाग देगे कि तब सठियाने तक भी कहीं कोई ठिकाना क्यों न हुआ ? कहिये कि आपके दरबार तक पहुँच कायम है तो कुछ-न-कुछ बुद्धि होगी जरूर । यह बात हम मजाक में नहीं कर रहे ।

बुद्धि पर तरस आने की स्थिति के नहीं बदलने का मतलब भी हमने यही लगाया है कि अभी कोई खतरा नहीं। बुद्धि पर भी तरस उसे ही आता है, जिसे स्वभाव पर तरस आता हो। बुद्धि की खोज में शैलेश मटियानी और मास की खोज में चील के घोंसले को टटोलने में कुछ ज्यादा फर्क नहीं, इतना जिस दिन आपकी समझ में और आ गया, तब, शायद, आपको खुद की बुद्धि पर भी तरस आने लगे।

जनाब, बुद्धिमानी का मतलब यह कब से हो गया कि हम दावा करें, कि गधों के सींग सिर्फ मुहावरे में ही हुआ करते हैं-- और आप हमारी बुद्धि पर तरस खाते हुए बतायें कि गधे की चार टोंगे मुहावरे के बिना भी होती हैं।--- हमने कहा था, कृष्ण योगबुद्धि से चलते हैं, राम की तरह व्याकुल नहीं होते।--- आपको बताना चाहिये था कि कहाँ, कौन-से वो प्रसंग हैं, जिनमें कृष्ण राम से भी ज्यादा व्याकुल दिखाई पड़ते हैं। हमारी जानकारी में, शैशव के बाद, कृष्ण के व्यवहार में कहीं कोई व्याकुलता कभी प्रदर्शित नहीं। सवेदना को बरतते भी कृष्ण ज्ञान का आधार नहीं छोड़ते। गोकुल की गोपियों के मन का हाहाकार हो कि महाभारत के महासमर के दारुण प्रसंग- कृष्ण सदैव और सर्वत्र योगबुद्धि से चलने के अभ्यासी हैं। निजी व्याकुलता, विक्षोभ और वेदनाओं को कृष्ण कहीं कोई प्राथमिकता नहीं देते। वो राम की तरह सामान्य व्यक्ति का सा आचरण कहीं नहीं करते।

न वेद, न शास्त्र और न ही लोक-कृष्ण के कर्म की नियामकता स्वयं कृष्ण से अन्यत्र कही नहीं। कृष्ण मनुष्य के विराट की सकल्पना हैं। एक दृश्य है, जबकि महाभारत का युद्ध समाप्त हो चुका है और गांधारी समरभूमि देखने निकली हैं। उनका सारा संचित स्त्रीत्व सुई की नोक की भाँति वेधक हो आया है। मर्माहत शेरनी का सा उनका गुराँना समरभूमि के सन्नाटे को विदीर्ण करता जान पड़ता है। उनकी जिह्वा ही जैसे आँख भी बन गई है।

आपने एक बार नामवर जी से भाषा सीखने की सलाह दी थी। तब आपकी सलाह पर मुझे भी तरस आया था। भाषा में असली धार जीवन के उस सग्राम से आती है, जिसे कोई कवि या लेखक स्वयं के कुरुक्षेत्र में झेलता है। भाषा के सारे सारतत्व सवेदना के व्यास पर निर्भर होते हैं। पढ़ियेगा, जरा गाधारी का समरभूमि में का विचरण— वहाँ रोंगटे खड़े कर देने का काम स्वयं समरभूमि के हृदय-विदारक दृश्य नहीं, बल्कि वाणी को अपने आहत मातृत्व ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण स्त्रीत्व की अग्नि से प्रज्ज्वलित कर, उसे लपलपाती बिजली की तरह कृष्ण पर छोड़ने वाली गाधारी के शब्द करते हैं।

समरभूमि में विचरण करती गाधारी एकाएक घुमड़ते, गरजते और दशों दिशाओं को आवृत्त करते बादलों से भरा आकाश होती जाती है और तब अपनी सम्पूर्ण क्रोधाग्नि के साथ विपत्ति की राह पर प्रवृत्ति है। कृष्ण पूरा कि 'सबसे विनाश के कारण तू हो! तू

सबको बचाने में समर्थ थे, फिर भी तुमने ऐसा नहीं किया। इसलिये, अब से छत्तीस वर्षों के बाद, स्वयं तुम भी अनाथों की तरह मारे जाओगे।'

लगता है, सारा कुरुक्षेत्र झुलस उठा है, गांधारी के इस कालसर्पिणी के से महादश से -लेकिन स्वयं वह व्यक्ति अब भी अपनी अगाध प्रशासिता में ही स्थित है, जिस पर कि गांधारी की भाषा सारी दिशाओं को लीलने में समर्थ कालशक्ति की तरह टूट पड़ती है। और तब लगता है कि महाकाल ही कृष्ण का रूप धरे सामने उपस्थित है।

राम होते, तो शायद, अपने द्वारा हुए विनाश कर्म के आत्मस्वीकार पर उतर आते। गांधारी के महाशाप को मर्यादा पुरुषोत्तम की तरह स्वीकार करने की आशा तो राम से भी की जा सकती है, लेकिन शब्द का जैसा विराट कृष्ण में है, राम में कहीं। राम तो बोल पड़ते हैं। कारण समझाने पर उतर आते हैं। कृष्ण को स्वयं का कर्म प्रश्नातीत है। सशय इस पूर्णकाम को कभी व्यापता ही नहीं। काल का कोई चरण नहीं, जहाँ तक कृष्ण की गति न हो।

लेकिन इससे यह तर्क कहीं निकल आयेगा कि चूँकि कृष्ण मानवचेतना का विराट है, इसलिये राम कुछ भी नहीं? यह सृष्टि स्वयं की प्रकृति में ही समदर्शिता के नियम से बँधी है। कहीं योगेश्वर कृष्ण और कहीं तीन कौडी का व्याध, मगर एक छोर पर आकर, महाकाल को दोनों समान हैं।

पहली बात, राम और कृष्ण में विरोध की कहीं कोई कल्पना ही नहीं भारतीय वाङ्मय में। किंवदंतियों में यशोदा के द्वारा बालकृष्ण को राम की कथा लोरी के रूप में सुनाये जाने पर सीता-हरण का प्रसंग आते ही, कृष्ण को 'धनुष कहीं है, मेरा धनुष कहीं है?' पूछते पाया जाता है। दूसरी बात, सामान्यता और असामान्यता, ये दोनों मानवीयता के ही दो छोर हैं। अब यह सवाल दीगर कि किसमें कितना। चूँकि आपने बाबा साहेब अम्बेडकर के विद्वत्पूर्ण लेख का 'हस' में पुनर्मुद्रण करते हुए, अपनी सम्पादकीय टीप के तौर पर राम में मानवीयता के लोप की पुष्टि की थी, इसलिये कहना पड़ा कि ऐसा नहीं है। अपनी उक्त सम्पादकीय टीप को दुबारा देख लेंगे।

कृष्ण सर्वस्वीकृत मर्यादाभजक नहीं, मर्यादा की प्रचलित अवधारणाओं की परिधियों के पार के व्यक्तित्व के रूप में मान्य है। आप मर्यादाभजक विशेषण का प्रयोग कुछ इस प्रकार करते हैं, जैसे कृष्ण ने सारी परम्परागत मर्यादाओं के विध्वंस का सकल्प किया हो। जबकि ऐसा है नहीं। कृष्ण मर्यादा की श्रेणियों के, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष तथा झूठ-सच के नये क्षितिजों के शिल्पी हैं। वो मर्यादा की प्रचलित रुढ़ियों तथा धारणाओं का अतिक्रमण करते हैं, मर्यादा का नहीं।

जिसके व्यक्तित्व की परिधियाँ माखनचोर से विराट पुरुष तक जाती हों, उसकी मर्यादा बाधना कहीं आसान होगा? अगर हम कृष्ण को विलासी कहें, तब भोग-विलास और आत्मविज्ञान के बीच समीकरण बिठाना भी जरूरी होगा। कृष्ण के कार्यकलापों को

अमर्यादित सिद्ध करने को कृष्ण द्वैपायन से बड़ी प्रतिभा जरूरी होगी क्योंकि मर्यादा भी सापेक्ष है। पोखर और सागर की न सीमाएँ एक होगी न मर्यादा। ज्ञान में गीता का अतिक्रमण किये बिना, भोग में कृष्ण को तर्कों से नापना सम्भव नहीं।

लेकिन जहाँ तक वे अधिक मानवीय भी हैं, राम की तरह लीप-पातकर तैयार किये गए मर्यादा पुरुषोत्तम नहीं का सवाल है- राम के मामले में भी बताना जरूरी होगा कि जो अरुचिकर, धिनोना और अमानवीय है वही लोकधर्म और राजधर्म, दोनों का सबसे बड़ा प्रतिमान कैसे मान्य हो गया ? क्या हम मानें कि राम के अमानवीय, अरुचिकर, धिनौने और लीप-पोतकर तैयार किये गये छद्मरूप को हजारों-हजार वर्षों की कालावधि में सिर्फ दो ही विद्वान पहचान सके- एक बाबा साहब अम्बेडकर और दूसरे, सम्पादक 'हस' जनवादी श्री राजेन्द्र यादव ?

अधश्रद्धा और अधविरोध, दोनों खतरनाक हैं, क्योंकि इसके रोगी स्वयं के पूर्वग्रहों के प्रति सर्वमान्यता की माँग करते पाये जाते हैं। बाबा साहब की विडम्बना यही है। वे राम का सिर्फ खुद अरुचिकर, अवैध, धिनौना, बर्बर और अमानवीय मानकर सतुष्ट हान में असमर्थ रहे। उन्होंने बाकायदे आह्वान किया कि लाग भी ऐसा ही माने। यही आकर यह बुनियादी सवाल उपस्थित होता है कि- उद्देश्य क्या है ?

कुछ भी हित से ऊपर नहीं। राम-कृष्ण की कैसी भी छिछालेदर में कोई हर्ज नहीं, अगर कि इससे हित होता हो। लेकिन तब बताना जरूरी होगा कि राम-कृष्ण के प्रति अनुराग और आस्था के कारण किन्हीं लोगों की या किन्हीं लोगों के द्वारा क्या-क्या सामाजिक क्षतियाँ हो रही हैं।

सैकड़ों-हजारों वर्षों से समाज के एक वर्ग को जा दलितों-अपमानितों का जीवन व्यतीत करना पड़ा है इसके मूल में सवर्णों की राम और कृष्ण में अनुरक्ति-आस्था ही बुनियादी कारण है -या कि इस अमानवीय, घृणित तथा बर्बर शापण के कुछ अन्य कारण भी मौजूद रहे हैं ?

क्या गजब है कि बाबा साहब अम्बेडकर उस कुलीनतावादी, सामंतवादी और पूजीवादी शोषण-उत्पीडक वर्ग पर कोई चोट नहीं करना चाहते, जो कि दलितों के सारे दमन-उत्पीडक का कारण रहा है। आपत्ति का विषय यह नहीं कि बाबा साहब राम-कृष्ण की कटु आलोचना करते हैं, आपत्ति उनके धिनौने उद्देश्य को लेकर है। अगर बाबा साहब समाज के हित में यह कार्य कर रहे होते, तब वो 'रामायण' और 'महाभारत' के गहरे विवेचन में जाते। हमें बताते कि राम और कृष्ण के कारण भारतीय समाज में कुलीनतावादी शक्तियों का उदय और विकास हुआ। और कि राम-कृष्ण या उनके निमित्त से वाल्मीकि और वेदव्यास ने कहाँ-कहाँ और कैसे-कैसे सवर्ण हिन्दुओं को अवर्णों के उत्पीड़न और शोषण के लिये प्रेरित किया। रामनामी और कृष्णनामी चादरें ओढ़कर डाकुओं के गिरोह लूट और कत्ल करते फिरें, तो इसमें राम और कृष्ण की भागीदारी कैसे-कैसे होती है ?

साफ है कि बाबा साहेब अक्बरी के उत्पीड़न और शोषण तथा उनकी प्रताड़ना के सामाजिक-ऐतिहासिक कारणों की तह में जाने से बचते रहे, क्योंकि तब उन्हें साम्राज्यवाद-पूँजीवाद के उस वर्तमान ढाँचे पर भी प्रहार करना जरूरी होता, जो दलित वर्ग के छद्म व्यक्तियों को अपने प्रभुसत्तावर्ग का सिपहसालार इसी इरादे में बनाता है कि वो दलित वर्ग के शोषण-उत्पीड़न के वस्तुगत सामाजिक-ऐतिहासिक कारणों के प्रति व्यापक जन-समाज को सचेत करने की जगह, वर्णवाद, सम्प्रदायवाद अथवा जातिवाद के ऐसे नये-नये नुस्खे ईजाद करें, जो कि साम्राज्यवाद और पूँजीवाद के अमानवीय, बर्बर तथा धिनौने चरित्र के प्रति लोगों के सचेत होने की प्रक्रिया को बाधित कर सकें। ऐसा अकारण नहीं कि बाबासाहेब अम्बेडकर अपने समय के शोषकों-उत्पीड़कों के चेहरे बेनकाब करने की जगह, 'रामायण' और 'महाभारत' की तरफ छलांग लगाते रहे। ब्रिटिश साम्राज्यवाद तथा देशी साम्राज्यवाद के बीच गँठजोड़ कायम करने वाली शक्तियों ने किस कीमत पर- और किस उद्देश्य से- उन्हें अपनी तरफ आने का रास्ता दिया है, इतना इल्म बाबा साहेब को बिल्कुल था।

अफसोस कि जनवाद और प्रगतिवाद का दावा रखते भी, आपने बाबा साहेब के उन व्यामोहों की तरफ झाँकने से खुद भी इकार किया, जिन्होंने उन्हें एक राष्ट्रीय सामाजिक व्यक्तित्व का विस्तार देने की जगह, वर्णवाद का मसीहा बनाकर छोड़ दिया। बहरहाल इस बहस को यहीं रोकते हुए, फिर जोर देकर यही कहना है कि जहाँ तक मनुष्य के सामान्य लोक-व्यवहार का प्रश्न है, वहाँ राम, कृष्ण से बड़ा प्रतिमान है। रह गया कृष्ण काव्यों का प्रश्न, राम की तरह का इकहरा और सीमित व्यक्तित्व नहीं है कृष्ण का। राम लीला-पुरुष नहीं है। वहाँ न गोपालों-गोपियों को कोई क्रीडागन है और न राधा-मीरा की कोई गुजाइश। जो जितना विराट उसकी मनरोंची मूर्ति रचने के रास्ते भी उतने ही सुगम होंगे। अलबत्ता आपके इस तर्क से सहमत नहीं कि कृष्ण अध्यात्म का एकमात्र आधार है। अध्यात्म के क्षेत्र में कृष्ण राम के बाद की वस्तु है। कृष्ण, भारतीय मिथकों की दृष्टि से, राम का ही विस्तार है।

वाल्मीकि और वेदव्यास, ये कोई रहे भी हों, या नहीं रहे हों, इनके नाम से जो-कुछ रह गया है, उसमें राम और कृष्ण, ये भारतीय संस्कृति ही नहीं, मेधाकि भी मेरुदण्ड हैं। ये ऐसे कल्प-मिथक हैं, जिनको केन्द्र में रखकर, एक पूरी प्रजाति ने अपनी आकांक्षा, आस्था और संवेदनाओं के तंतुजाल बुने हैं। जो वस्तुएँ करोड़ों-करोड़ लोगों की अस्मिता का प्रतीक बन जाएँ, उन पर कीचड़ उछालने से पहले, अपने इरादे और औकात, दोनों की टोह जरूरी है। अगर कोई ईसा या मुहम्मद साहब को उचक्का या धिनौना साबित करना चाहे, तो यह सबसे प्रथम उसकी उचक्कई-उजबकई का सबूत होगा, क्योंकि इसके पीछे समाज के शुभ की चिंता तो नदारद, लेकिन स्वयं की कुण्ठा और कुत्सा का विस्फोट मौजूद होगा।

इसमें कहाँ आपत्ति होगी कि बाबा साहेब अम्बेडकर के प्रकाण्ड पाण्डित्य की तुलना में शैलेश मटियानी की बुद्धि को हास्यास्पद करार दिया जाय, लेकिन इतना फिर दोहराना

चाहूँगा कि विद्वता खतरनाक है, अगर कि उद्देश्य विग्रह उत्पन्न करना हो।

माफ करें, साहब, 'जिसे हम मानें, सो सबसे ऊपर और जिसे हम नहीं मानें, सब जजाल' की बुद्धिमानी में हमारा साझा सम्भव नहीं। हम तो अब भी यही कहेंगे कि बिना सोचे-विचारे तो भिड़ों के छत्तों पर ढेले फेंकना भी ठीक नहीं, क्योंकि छत्ता बनाने में सिर्फ वक्त और सामग्री ही नहीं, बल्कि अस्तित्व के सवाल की भागीदारी भी हुआ करती है। जैसा कि पहले भी कहा, राम और कृष्ण को केन्द्र में रखकर एक पूरी प्रजाति हजारों वर्षों से अपने सवेदनों का महास्वप्न रचती आई है। इन्हें छेड़ने से पहले, उद्देश्य बताना जरूरी होगा और उद्देश्य में कल्याण की जगह, कुत्सा की भूमिका प्रबल होगी, तो इससे सिवा बिगाड़ के कुछ बनेगा नहीं।

जहाँ तक अपना सवाल है, कोई राम-कृष्ण के पुतलों का जुलूस निकाल कर, उन पर कीचड़ उछालता- आग लगाता फिरे, तो भी कोई आध्यात्मिक-बौद्धिक कष्ट नहीं व्यापना, क्योंकि हमें अध्यात्म कोई मूर्ति-सरीखी वस्तु नहीं, बल्कि आत्मा के काव्य का प्रतीक है। लेकिन समाज की आस्था और अस्मिता के सवालों को छेड़ते, वैसी ही गहरी दृष्टि का होना भी जरूरी है, जो कि व्यक्तिगत कुण्ठा या कुत्सा नहीं, बल्कि मानव समाज के हित की चिन्ता में से जन्म लेती है। जिसके पीछे कि मानव-मात्र के हित में किये सघर्षों का आलोक विद्यमान होता है। सचमुच अफसोस है कि बाबा साहेब का लेख पुनर्मुद्रित करते हुए जो सम्पादकीय टीप आपने लगाई, उसमें वैसी समझ और दृष्टि का लोप ही था, जो प्रत्येक गम्भीर सवाल के पूर्वापर, सागे पक्षों को प्रासंगिकता की दृष्टि से देखते चलने का विवेक जगाये।

इस संदर्भ में प्रख्यात विदुषी रोमिला थापर का जो रामकथासम्बन्धी लेख 'साँचा' में पहले को दिया था आपने, वह सामग्री-संकलन की दृष्टि से प्रशंसनीय जरूर है, लेकिन 'सी' दृष्टि का कोई चिह्न हमें नहीं मिला पाया लेख में जो 'रामायण' -जैसे महाकाव्य के अपने तत्कालीन तथा परवर्ती समाज में प्रनिच्छावित होने की क्षमता का सम्यक् आकलन करने को जरूरी होगी। इसमें मनुष्य के सवेदना और उसकी सांजिक स्थितियों के सवालों को परम्परागत जीवनमूल्यों से जोड़कर देखने की कोशिश ज्यादा नहीं। न वैसी क्षमता का ही कोई आभास कहीं मिल पाता है, जो वस्तु को उसके पूरे संदर्भ में देखने को जरूरी हुआ करती है। लेकिन आपत्तिजनक उसमें कुछ नहीं, क्योंकि उसकी प्रवृत्ति शोधपत्र की है, बाबा साहब अम्बेडकर की भाँति के प्रतिशोध-पत्र की नहीं।

रामकथा के अनेकानेक रूप उपस्थित करते हुए अगर रोमिला थापर ने भी 'रामायण' या 'रामचरितमानस' के निषेध और राम-कृष्ण की पूजा करने वालों को राम-जैसे उच्चकों, चरित्रहीनों और बर्बरों की पूजा से बचने की हिदायत दी होती, तो हम भी यह सवाल जरूर करते कि पहले किससे बचें ? कुण्ठा, कुत्सा और विद्वेष का जहर उगलती रोमिला से कि राम से ?

आपने खुद वह लेख ध्यान से पढ़ा हो, तो देखा होगा कि रोमिला ने राम-सीता के

उनकी एक स्थापना जरूर ध्यान आकर्षित करती है, जिसमें उन्होंने 'रामायण' के प्रारम्भ तथा अन्त के अध्यायो में प्रक्षिप्ति की आशका प्रकट की है। हालांकि अपना मानना यही है कि वाल्मीकि राज्य के चरित्र की विडम्बनाओं का साक्षात्कार कराना चाहते हैं। रामायण में राज्यविहीन राम और चक्रवर्ती सम्राट् श्री राम के बीच, सवेदना के स्तर पर अन्तर स्पष्ट हैं। सीता के हरण पर विलाप करते राम को वैदेही को स्वयं अरण्य में खदेड़ते देखना, राज्य की विडम्बना का साक्षात्कार करना ही होगा। बहरहाल इस प्रसंग को अब यही समाप्त किया जाय, क्योंकि फिर आपका कहा सच साबित हो रहा है।

ऐसा है साहब, कि आलाप और मिलाप, ये दोनों ही लम्बे खिंचते हैं। अब यह आपके छोर की बात कि हमारे कहे को किस श्रेणी में रखना चाहेंगे। हमने एक ठीठता जरूर सीखी है। वो यह कि मूर्ख कहे या समझे जाने के डर में चुप नहीं पड़ रहना, क्योंकि जैसे विद्वत्ता, तैसी ही मूर्खता भी अपने में समेट कर रखे रहने की वस्तु नहीं। और इतना तो आप भी मानेंगे कि विद्वान् को सबसे गहरी टक्कर वज्रमूर्ख ही दिया करता है ? खुद को पहली और हमें दूसरी श्रेणी में रखते चलें, इसी में हमारी भलाई होगी।

आपका अभगवान आपको सदा हमारे प्रति कृपालु रखे, यही प्रार्थना है।

आपका निर्बुद्धिदास,
शैलेश मटियानी

पुनश्च बुढ़ाने का क्या जिक्र करिये। काल भी कमजोर को ही दबाता है। धूप भी काल का ही अंग है, लेकिन उसने जहाँ हमारे वालों को रूखड़ और सफेद, तहाँ आपके केशों को और ज्यादा चमकीला तथा कज्जर बनाने में दिलचस्पी दिखाई है। हमें सतोष यह है कि चलिए, हमारी बुढ़भस ने ही सही, आपके कृष्ण-प्रेम को प्रकट होने का अवसर तो उपस्थित किया।

प्रिय शैलेश,

७-८-८७

तुम्हारा १७-७-८७ का पत्र और रामायण सीरियल पर लिखे मेरे लेख पर तुम्हारी लम्बी प्रतिक्रिया भी मिली अच्छा मुझे यह लगा कि तुमने अपनी प्रतिक्रिया की एक प्रति मुझे भी भेज दी -यह तरीका सिख धर्म के अनुकूल है। कोई सिख न तो पीठ पीछे से मारता है और न सोते हुए को। वह हमेशा सामने से हमला करता है और जगाकर। (आतंकवादियों की बात दूसरी है।)

तुमने इसे जहाँ भी छपने भेजा है, उन्होंने अबतक मेरी कोई प्रतिक्रिया नहीं माँगी है। न भी माँगें तो भी ठीक है, पर मैं तुम्हारे दूध-से साफ व्यक्तित्व को हमेशा स्वीकारता रहा हूँ -मतभेदों के बावजूद इसीलिए तुम पर एक अधिकार भी मानता रहा हूँ और मानता रहूँगा जब जरूरत होगी या जरूरी होगा -मैं हमेशा तुम्हें आवाज दूँगा।

इसीलिए मेरी व्यक्तिगत और नैतिक जिम्मेदारी है कि तुम्हें उत्तर दूँ और गलतफहमी को (विवाद के लिए नहीं) साफ करूँ।

१४-८-८७

तुमने बड़े व्यापक फलक पर इस प्रश्न को उठाया है- और सरकार के बहाने भी कुछ आक्षेप लगाये हैं। सरकार वाले पक्ष से मेरा सरोकार इतना है कि रामानंद सागर-कृत (स्वामी रामानंद-कबीर-रैदास के गुरुश्री नहीं) रामायण को सरकारी दूरदर्शन प्रदर्शित कर रहा है। मैंने प्रधानमंत्री की उस पीठठोंकू मीटिंग का भी विरोध किया है, जिसमें वे रामायण यूनिट को अपने घर बुलाकर धन्यवाद-ज्ञापन करते हैं। अतः तुम्हारा यह कहना कि प्रधानमंत्री को साफ बचा ले जाना चाहते हैं। तथ्यपरक नहीं है।

विद्रोह का लक्ष्य भी ओझल नहीं है, जैसा कि तुमने मान लिया है- संस्कृति को भ्रष्ट करने की सीधी जिम्मेदारी सरकार की है, जो कभी 'अपना उत्सव' और कभी भारत उत्सव (विदेशों में) के जरिए और कभी non resident Indians द्वारा भ्रष्ट विदेशी फिल्मों का आयात करके (N F D L) के जरिए और लगातार सरकारी संचार माध्यमों के जरिए करती है। संस्कृति की पूरी ठेकेदारी इस समय सरकार के पास है। शायद, तुमने 'रविवार' में ही छपा मेरा 'अपना उत्सव' वाला आलेख नहीं पड़ा। मैं तो एक क्रम में लिख रहा हूँ (जो पत्रिका की सामायिकता को बनाये रखने के कारण टूटता रहता है) मैंने उस सरकारी बड़े अफसर के वक्तव्य का भी विरोध 'रविवार' में ही किया, जिसने कलकत्ते की एक मीटिंग (पर्यटन विभाग की) में कहा- 'इस संस्कृति को हमें गाँवों में ले जाना है।'

अतः अगर तुम्हारी नजर इस क्रमागत लेख पर न पड़े, तो मेरा दोष नहीं है।

मेरे Illustrated Weekly वाले Statement को भी तुमने अपने मन-मुआफिक बना लिया। मैंने उस में कहा है -He (Rajiv Gandhi) is the best politician, because he is not politician '

अगर तुम्हारे-जैसा जागरूक लेखक व्यंग्य को नहीं समझ पाता, तो इस क्या कहूँ। मैंने राजीव गांधी को 'सबसे योग्य प्रधानमंत्री' नहीं कहा है। यह तुमने मेरे statement को बिना पढ़े जड़ दिया है।

तुम्हारा यह मासूम आक्षेप कि 'प्रधानमंत्री के सलाहकारों में, यहाँ हम अपनी ओर से कमलेश्वर भाई का नाम प्रस्तावित करना चाहेंगे', तो इस सम्बन्ध में तुम्हें बता दूँ कि तुम्हारे सुझाव से पहले यह प्रस्ताव 'कमलेश्वर भाई' के पास आ चुका है और तुम्हारे कमलेश्वर भाई, तुम्हारी आक्षेपपूर्ण सदाशयता के बावजूद, उससे अलग रहना मजूर कर चुके हैं- अपने लेखन के लिए।

रही रामायण के शरीयत होने की बात, तो इस्लामी शरीयत के कट्टरपन की बात अलग रखकर क्या तुम कह सकते हो कि रामायण परम्परागत रूप में सनातनी सगुणभक्त हिंदुओं की आचारसंहिता नहीं रही है ? पिता-पुत्र, भाई-भाई, भाभी-देवर, गुरु-शिष्य आदि सबधों की 'आदर्श धारणाएँ' क्या रामायण से Quote नहीं की जाती ? हिंदू उदारवाद की बैसाखिया मत पकड़ लेना इस दलील का काटन के लिए।

शेष ठीक है।

सस्नह,
कमलेश्वर

श्री शैलेश मटियानी, इलाहाबाद

['रामायण और रामचरित मानस' के सांस्कृतिक खतरा लेख के संदर्भ में लिखा पत्र]

२६ अगस्त, १९८७

कमलेश्वर भाई,

आपका ७ अगस्त ८७ का पत्र। जो विश्वास और सद्भाव आपने व्यक्त किया, इससे परितोष अनुभव करूँ, और आत्मीयता के प्रति कृतज्ञता, बिलकुल स्वाभाविक है। कभी पलट कर लेखा-जोखा लगाया, तो अनुभव हुआ कि बस, यही असली जमापूँजी है, जो कि कई-एक के भीतर थोड़ी-सी जगह जुटा लेना सम्भव हो गया।

स्वभाव की सासतों से बेखबर नहीं। जिस तरह लिखता-बोलता हूँ, लोगों का कुपित हो उठना निहायत स्वाभाविक जान पड़ता है, लेकिन इस सबके पीछे अनुभव और विश्वास का आधार है। जिनमें भी कुछ व्यक्तित्व और दृष्टि हो, वो कहीं-न-कहीं दूर और गहरे तक झाँकते जरूर हैं। हर विचारशील व्यक्ति इस सवाल में जरूर आता है कि कुछ भी लिखने-बोलने के पीछे इरादा क्या है। और अगर इरादा बुरा नहीं, तो कैसा भी तीखा लिखना या बोलना सम्बन्ध नहीं तोड़ता, बल्कि बनाता है। कपट नहीं, तो सवाल फिर सिर्फ असहमति का है और सवाद के लिये असहमति से ज्यादा जरूरी कुछ नहीं।

असहमति आक्षेप नहीं, न अवज्ञा। बहस एक-दूसरे के प्रति सम्मान का सूचक हुआ करती है। बहस वही सम्भव है, जहाँ लगाव हो। विश्वास कि बात के गलत होने से कुछ फर्क नहीं पड़ना, अगर कि इरादा गलत नहीं। बहस खड़ी करने की कोशिश के पीछे कबड्डी खेलते होने का-सा भाव हो, तो 'खेलत में को काको गुसैया' वाला भाव आ जाता है, चोट करने का दुष्प्रापन नहीं रहता। तब पीठ-पीछे भी व्यक्ति वही बात करता है, जिसे मुँह-सामने कहते हिचक नहीं हो।

राग-द्वेष छिपाये नहीं छिपते, कभी-न-कभी प्रकट होते जरूर हैं और फिर भाषा तो जहाँ प्रवाह में हुई, पारदर्शिता बढ़ती जाती है। जितना इस्तेमाल करें, भाषा हमारी हकीकत खोलती जाती है। लिखना जारी रहे, तो इरादा छिपना असम्भव है। आदमी को, दूसरों से पहले, खुद का सामना करना होता है। जिसमें पारदर्शिता नहीं, वही सचाई से डरता है, क्योंकि सचाई पत्थर में भी प्रतिबिम्ब उत्पन्न करती है। कमियाँ हजार, लेकिन कहीं कुछ सचाई भी हो, तो आदमी का डर जाता रहता है। जिसे आप पीठ-पीछे का हमला कहना चाहते हैं, वह झूठों की नियति है। बहस हमला नहीं है। बहस सामने देखते ही लम्बी तानने वालों को कोई नहीं जगा सकता।

बहस और हमले में बुनियादी फर्क है। हमला चोट पहुँचाने के इरादे से किया जाता है, बहस तर्क का तूफान उठा सकने के इरादे में, क्योंकि तूफान में भी टिका रहे, तभी तर्क 'शास्त्रसम्मत' बन पाता है। तर्क ही क्यों, शस्त्र भी तभी अपनी प्रासंगिकता सिद्ध कर पाता है, जबकि उसके पीछे बहस का शास्त्रीय आधार हो। मनीषियों ने हमले नहीं किये, लेकिन विश्व के सबसे बड़े संग्राम उन्हीं के द्वारा लड़े गये हैं। 'महाभारत' लिखना महाभारत लड़ने से कहीं बड़ा काम है। महाकाव्य के रूप में लिखा गया युद्ध ही समाज की स्मृति में टिकता और दिशा देता है। 'रामायण' का सबसे बड़ा करिश्मा शस्त्र

और सवेदना की टकराहट है। व्याध के वाण का तोड़ स्वयं की महाकाव्यात्मक सवेदना से उपस्थित करने के सघर्ष में ही आदिकवि ने राम के शस्त्र-सधान का नैतिक आधार निर्मित किया। आधुनिक युग में ठीक वैसा ही पुरुषार्थ मार्क्स में देखने को मिलता है, जिन्होंने पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध खड़े सर्वहारा के शस्त्र-सधान का नैतिक आधार निर्मित किया।

बहक गया। कहना, दरअसल, इतना ही था कि बहस ही लिखने का नैतिक आधार है और अगर यह आधार मौजूद हो, तो लिखना शास्त्रार्थ है, हमला नहीं।

वाल्मीकि का जिक्र इसलिये भी, कि लगता है, आप इस आदिकवि के इरादे की पहचान में नहीं गये। 'रामायण' में हिन्दुओं की शरीयत खड़ी करने का इरादा कहीं नहीं। प्राणि-मात्र में करुणा और सवेदना को जगाने का सकल्प जरूर है।

हर युगद्रष्टा आचारसहिता रचता है। मार्क्स ने नहीं रची है साम्यवाद की सहिता ? अब कोई इसे मानव-सहार का लबादा बना डाले, तो इसमें मार्क्स का कसूर ? मार्क्स ने जो सर्वहारा की सशस्त्र क्रांति का शास्त्र गढ़ा है, उसके पीछे राम के रावण से सग्राम के महाकाव्यात्मक वृत्त से छोटा तर्क नहीं। सवेदना में दोनों युगांतरकारी हैं- वाल्मीकि भी, और मार्क्स भी। रास्ते अलग-अलग हैं। एक का साधन काव्य और दूसरे का राजनीति है। यह देखे जाने की ही बात हो सकती है कि भाषा का कुछ-कुछ लगभग वैसा ही महासागरीय आलोडन-विलोडन मार्क्स में भी मौजूद है, जैसा वाल्मीकि में। वाल्मीकि को हिन्दुओं को कठाचार्य कहना, समझ का दीवाला घोषित करना होगा।

बैसाखियाँ हर हाल में बैसाखियाँ हैं, वो चाहे हिन्दू उदारतावाद की हों, या जड़ मार्क्सवाद की। बैसाखियों के रंग का लूले की गति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। विचार का आधार तर्क है और यह एक तथ्य कि हिन्दू चिंतन के धरातल पर अपेक्षाकृत उदार रहा है और इसका कारण धर्म की जकड़ से बाहर होना है। धर्म हिन्दू की नियति का तत्व नहीं। हिन्दू स्वयं के हिन्दू होने को हिन्दू धर्माचार्यों की मान्यता या मेहरबानी का मोहताज नहीं। यह एक सच्चाई है कि धर्म की जितनी गहरी जकड़ और बदिश पैगम्बरी धर्मों में, हिन्दू समाज में नहीं। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि हिन्दू समाज सारी विकृतियों से बरी है। जैसे सागर में पनाले जा मिलते हैं, आज हिन्दू समाज में हिन्दुत्व के सामने प्रश्नचिह्न बनती त्रिशूल सेनाओं का उदय हो चुका है। इसमें 'रामायण' या 'रामचरित मानस' का दोष नहीं, यह सब सत्तातंत्र के रक्तबीजों का करिश्मा है और इस राक्षसी पुनर्जागरण से कोई अछूता नहीं। सिख, मूसलमान, हिन्दू और ईसाई- प्रत्येक में से सस्कृतिविहीन बर्बर तत्वों को तालाब में की गद की तरह सतह पर ले आने का काम कांग्रेसी हुकूमत ने अजाम दिया है, क्योंकि इसके सारे नैतिक आधार ध्वस्त हो चुके हैं। भाषा, शिक्षा, कानून, सस्कृति और अर्थव्यवस्था- प्रत्येक क्षेत्र में कांग्रेसी हुकूमत का चरित्र औपनिवेशिक तथा साम्राज्यवादी होने से लोकतंत्र, राष्ट्रीयता और सस्कृति के इसके सारे छद्म कोढ़ी के शरीर पर का मलमल हो गये हैं।

चरित्र का सवाल पहला सवाल है। डाकू के नकाब बना लेने से वस्त्र डाकाजनी का कारण नहीं बन जाता। सत्तातंत्र के द्वारा 'रामायण' के धूर्ततापूर्ण इस्तेमाल से इस महाकाव्य की हिन्दू साम्प्रदायिकता कैसे साबित होगी ? आपने सत्तातंत्र के छद्म का सवाल कम, 'रामायण' के हिन्दू शरीयत होने का सवाल ज्यादा उछाला है और यही संस्कृति की गलत समझ है। शैतान के 'कोट' करने से बाइबिल नाली में फेंकने की वस्तु नहीं बन जाती। 'रामायण' भारतीय संस्कृति का आदिग्रन्थ है। 'रामायण' को छोड़कर भारतीय संस्कृति की बात करना भारतीय संस्कृति के अन्त स्रोतों की पहचान से इकार करना है।

आपके सभी लेख तो नहीं पढ़े 'रविवार' में, लेकिन कुछ पढ़े और उनमें से प्रत्येक में जहाँ कुछ विचारात्तेजक और प्रासंगिक मुद्दे उठाये गए हैं, उतनी ही शुद्ध भावातुर लतरानियाँ भी। मुसलमानों का पक्ष लेना एक चीज है, हिन्दू साम्प्रदायिकता का एकतरफा हौवा खड़ा करना बिल्कुल दूसरी और बिल्कुल गलत चीज। पहली बात, साम्प्रदायिकता न भारत के बहुसंख्य मुसलमानों की जरूरत है और न ही हिन्दुओं की। दोनों जगह साम्प्रदायिकता का खेल सत्तातंत्र-प्रेरित तथा पोषित साम्प्रदायिक तत्वों का करिश्मा है और ज्यों-ज्यों इन्हें सत्तातंत्र की शह मिल रही है, वे अपना खूँखार खेल बढ़ाते जा रहे हैं। इसलिये जरूरत साम्प्रदायिकता-मात्र के प्रतिरोध की है, इस दलील में कुछ दम नहीं कि अल्पसंख्यकों की तुलना में बहुसंख्यकों की साम्प्रदायिकता खतरनाक होती है। भारत की तथाकथित धर्मनिरपेक्ष पार्टियों के द्वारा बहुसंख्यकों में साम्प्रदायिकता को भड़काने को अल्पसंख्यक वर्गों की पीठ थपथपाई जाती है।

साम्प्रदायिकता काँग्रेसी हुकूमत का अपरिहार्य तत्व है, क्योंकि इसकी बुनियाद ही साम्प्रदायिक बन्दरबोट से पड़ी है। पाकिस्तान जनमत-संग्रह के आधार पर नहीं, बल्कि लीगी चरम साम्प्रदायिक तत्वों की पण्डित जवाहरलाल एण्ड कम्पनी से सधि की उत्पत्ति है। मजहब के नाम पर बने पाकिस्तान ने ही धर्म के नाम पर राष्ट्र का वह तार्किक आधार तैयार किया, जो भारत की आत्मा के विरुद्ध है। खालिस्तान भी उसी मजहब के नाम पर मुल्क के नारे की प्रतिच्छाया है। हिन्दू-मुसलमान के सवाल को छूते में इसके सारे प्रसंगों की गहरी पड़ताल जरूरी होगी और यह स्पष्ट बताना होगा कि भारत एक तिहाई पाकिस्तान बनकर नष्ट हो चुका, बाकी बचा खालिस्तान और हिन्दू राष्ट्र बनकर नष्ट हो जायेगा। भारत की संस्कृति वैदिक संस्कृति का पोखर नहीं, सागर है। भारतीय संस्कृति साझा संस्कृति है। यह सिर्फ हिन्दुओं की बपौती नहीं। इसकी निर्मिति में मुसलमान का हाथ इतनी गहराई तक लगा है कि अलग करने के लिये भारतीय संस्कृति का गला रेतना जरूरी होगा।

चूँकि साझा संस्कृति है, इसलिये संरक्षा का दायित्व भी हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई और पारसी- सभी पर है। पाकिस्तान के मुसलमान इस साझा जिम्मेदारी से अलग हो चुके हैं, इससे भारत के मुसलमानों की जिम्मेदारी कुछ ज्यादा बढ़ गई है। इतिहास में अनेक ऐसे अवसर उपस्थित होते हैं, जब दूसरों के किये का भोग हमें भुगतना

होता है। भारत के मुसलमान आज इसी ऐतिहासिक मांड पर खड़े हैं और इसी से उनका सकट दोहरा है। ऐसे में यह हिंदुओं की भी नैतिक जिम्मेदारी है कि मुसलमान को अकेला न पडने दे।

पाकिस्तान ने भारत के मुसलमान का नैतिक आधार झीना कर रखा है, यह एक तथ्य है और जरूरत इस तथ्य से इकार नहीं, बल्कि इसका सामना करने की है। मुसलमान का अपने हर काम के लिये हुकूमत की तरफ ताक-झोंक करना ही सत्तातंत्र को उसकी शक्ति साम्प्रदायिक बनाने का अवसर जुटाता रहा है। गाँवों में आज भी चूँकि मुसलमान का वास्ता हिन्दू से बँटाईदार और दुख-सुख, बुरे-भले के साझीदार का है, इसी से कैसे भी बहुसंख्यक हिन्दू समुदाय के बीच भी न मुसलमान खतरे में है और न इस्लाम। सवाल, इसीलिये, हिन्दू-मुसलमान को जुड़वाँ भाइयों की शक्ति देने का है और आदमी की शक्ति को आदमियत की आब देने का सबसे बड़ा जिम्मा संस्कृति पर। हुकूमत संस्कृति की शक्ति खुद की जैसी निकालना चाहती है, ताकि उसकी शक्ति संस्कृति के संरक्षक की निकल सके। संस्कृति पर चौतरफा हमला सत्तातंत्र की इसी कूटनीति का परिणाम है कि संस्कृति के ताने-बानों को पूरी तरह ध्वस्त किये बगैर, लोगों का मनचाहा इस्तेमाल मुश्किल होगा। संस्कृति हमेशा बर्बरों के आड़े आती है।

संस्कृति का आधार है संवेदना और संवेदना में आदमी जुड़ता है। सिखों और मुसलमानों के कत्लेआम से सिर्फ हिन्दू साम्प्रदायिक तत्वों को ही तुष्ट किया जा सकता है और इस करिश्मे को आजमाने की भी एक सीमा होगी, इसी अभिज्ञान में संस्कृति पर हमला बोला जाता रहा है। राज्यव्यवस्था जब भी बर्बर होती है, उसकी पहली भूख समाज के अन्त सत्त्वों को चाटने की होती है। संस्कृति राज्य नहीं, समाज की उत्पत्ति है। उसका आधार शस्त्र नहीं, संवेदना है। उत्पीड़क राज्यव्यवस्था संस्कृति को अपनी सबसे बड़ी बाधा पाती है। संस्कृति की जड़ें आदमी के भीतर होने से वह यहाँ सीधे कब्जा नहीं जमा पाती, इसलिये उसे विकृत और विरूपित करके खत्म करना चाहती है। जैसे कोई दूध में जहर घोलता है, वैसे ही सत्तातंत्र संस्कृति के क्षेत्रों में विष-वमन में जुटा है। संस्कृति को उसके अन्त स्रोतों से काटकर, सत्ता के संचार-साधनों की गिरफ्त में जकड़ने की मुहिम ही सारे सरकारी सांस्कृतिक उत्सवों का केन्द्रबिन्दु है।

आपका यह कहना बिल्कुल सही है कि सरकार गाँवों में ले जाने के बहाने संस्कृति में जहर घोलने की तैयारी कर रही है। शहरों के नगरे-बर्बर दगों के बावजूद गाँवों में हिन्दू-मुस्लिम और सिखों के बीच दगों का नहीं होना हुकूमत की चिंता का कारण बन सकता है। गाँवों में किराये के दगाइयों की घुसपैठ आसान नहीं होने से, यह काम दूरदर्शन, अकाशवाणी और सांस्कृतिक उत्सवों के माध्यम से किया जाना है। सांस्कृतिक उत्सवों के नाम पर सत्तातंत्र के खर-दूषण और शूर्पनखाओं का गाँवों में प्रवेश भारतीय संस्कृति के लिए विध्वंसक साबित होने वाला है। जो खतरा ब्रिटिश साम्राज्यवाद नहीं खड़ा कर सका, संचार साधनों की मारक शक्ति के माध्यम से कांग्रेसी हुकूमत ने सिर पर तान दिया। देश के संवेदनशील और विचारवान त्वागों ने संस्कृति पर इस राक्षसी

हमले का प्रतिरोध नहीं किया, तो भारतीय संस्कृति का विध्वंस निश्चित है।

सांस्कृतिक उत्सवों की सारी राजनीति गला रेतने से पहले माथे पर तिलक-चन्दन लगाने की कपटविद्या की देन है। संस्कृति के सवाल आदमी की सामाजिक-आर्थिक के बाद नहीं, बल्कि साथ के सवाल हैं। देश के ऐसे दुर्दिनों में अरबों रुपये सांस्कृतिक भंडैती में बरबाद करने वाले सत्तातंत्र से उम्मीद की जा सकती है कि यह संस्कृति का विकास करेगी ? सारा सांस्कृतिक प्रतिनिधित्व जरखरीद बहुरूपियों के हाथों में है। प्रतिभा का दुर्भाग्य कि वह समाज से कटकर सत्तातंत्र के इसतेमाल की वस्तु बन जाती है। यह जो आपने प्रधानमंत्री के सलाहकारों में शामिल नहीं होने का इरादा जाहिर किया है-नहीं जानता, कितना टिकेगा। कालांतर में आप सत्तातंत्र के सांस्कृतिक खेलों में रह चुके हैं और इतना अनुभव आपको जरूर होगा कि यज्ञ आदमखोरों के साथ मिलकर करने की वस्तु नहीं। मासूम आक्षेप या मासूम सदाशयता में कुछ फर्क नहीं, क्योंकि यदि आक्षेप दुर्भाग्य में हो, तो उसका मासूम होना धूर्तता है। अपनी वाछा आपको अपने पाले में पाने की ही हो सकती है, सत्तातंत्र के बाड़े में देखने की नहीं।

लेखक अभी तक लेखक है, जब तक पण्यवस्तु नहीं। आप लेखक होने की कीमत चुकाना चाहते हैं, इससे सिवा हर्ष के और क्या अनुभव होगा। हालांकि यहा मामला लगभग समाप्त है। औकात से ज्यादा वजन उठाना भारी पडा और एक गहरी दूटन, थकान तथा परास्तता ने हतप्राण-सा कर दिया है, लेकिन फिर भी आप आवाज देंगे, तो और चाहे कुछ नहीं, सुनने से इकार तो नहीं ही होगा, क्योंकि आदमी की आवाज से बड़ी कविता कुछ नहीं। जिसे आवाज देना और आवाज सुनना आ गया, उसे आदमी होना आ गया।

लेख 'अभिप्राय' में छप रहा है। सम्पादक का पत्र आप तक पहुंचेगा जरूर। सचमुच खुशी होगी, अगर आप कुछ लिखें। कैसी भी कटु आलोचना लेखक की कोई क्षति नहीं करती। आलोचना और तर्क तो दीक्षा का काम करते हैं। लेखक होना समाज के अखाड़े की मिट्टी में लथपथ होना नहीं हुआ, तो फिर लेखक होना ही क्या हुआ ?

सचमुच कृतज्ञ हूँ कि आपने इतना प्यारा जवाब दिया।
मानन्द होंगे।

आपका
शैलेश मटियानी

सवा में
श्री कमलेश्वर सम्पादक गंगा' दिल्ली।

विष्णु प्रभाकर,

८१८, कुण्डेलवालान चौक, दिल्ली।

दिनांक २६ मार्च १९६८

प्रिय भाई

मुझे 'अभिप्राय' में रामायण के सबंध में आपका लेख पढ़ने का मिला। मैं उससे बहुत प्रभावित हुआ। आपने सचमुच तटस्थ भाव से सारी चीजों को देखा-समझा, जबकि हम प्रायः एकांगी दृष्टि से ही किसी वस्तु की परख करने के आदी हो गये हैं। मैं आपके मूल स्वर से पूरी तरह सहमत हूँ।

वैसे मेरा अपना एक निजी दृष्टिकोण है। हमारे पुराणों में दशावतार की जो कथा आती है— एक अद्भुत कल्पना है। जीव और उसकी संस्कृति के विकास की ऐसी परिकल्पना आज भी शायद हम नहीं कर पाते। रामायण और महाभारत इसी विकास क्रम के दो महत्वपूर्ण पड़ाव हैं। घुमन्तू जातियाँ जब खेती करना सीख गईं और गिरोह में बैठकर रहने लगीं, तब जिस संस्कृति का विकास हुआ, वही रामायण का मूल आधार है। नाना कवियों ने उसको नाना रूपों में देखा और वर्णन किया है। नैतिक नियम ऐसे ही समय विकसित होते हैं। और जब विकास क्रम में ये नियम जड़ हो रहते हैं, अर्थात् शब्द रह जाता है, अर्थ भूल जाता है, तो महाभारत का जन्म होता है। कृष्ण राम से बड़े अवतार हैं, लेकिन वे सभी उन नियमों को तोड़ देते हैं, जो राम के काल में विकसित हुए थे। यानी वे जड़ता के प्रति मोहभंग के प्रतीक हैं और नैतिक-अनैतिक से ऊपर उठकर सत्य की तलाश में आगे बढ़ते हैं। यह मात्र प्रतीक-रूप में मैं अपनी बात कह रहा हूँ। कवि की कल्पना में अतिशयोक्ति तो होती ही है। हमें उसके पार देखना ही चाहिए और प्रतीकों के अर्थ समझना चाहिए। बामन और बलि की कहानी, विज्ञान की जड़ शक्ति और मानवमूल्यों के जीवन्तता के संघर्ष की कहानी है।

ऐसे अनेक प्रतीकों से भारतीय वाग्मय मालामाल है। यहाँ हिंदू संस्कृति का प्रश्न नहीं है भारतीय संस्कृति का प्रश्न है। यु काल के प्रभाव में अनेक विचारधाराएं पनपीं, उनमें संघर्ष भी हुआ। लेकिन वे अन्ततः एक-दूसरे में खो गईं। आज हम नहीं जानते, कौन आर्य है, कौन द्रविड है, कौन शक। हिन्दू नारी का पवित्र सुहाग चिन्ह 'सिन्दूर' आर्य जाति में प्रचलित नहीं था, वह तो आग्नेय जाति की देन है। मिलीजुली सामाजिक संस्कृति इस देश की मूल भावना रही है। अंग्रेजों ने जानबूझ कर सुनियोजित रूप से उसको छिन्न-भिन्न करने का प्रयत्न किया। और सफल भी हुए। दोषी वह भी हैं। उसी का परिणाम आज हम भुगत रहे हैं। इस दृष्टि से रामानंद सागर ने रामायण को नहीं देखा। अन्यथा बानर और रीछ जातियों का कुछ और ही रूप होता। ऐसी अनेक बातों पर मुझे भी आपत्ति है। मुझे तो स्वयं हिंदू धर्म को उससे वैज्ञानिक विचारहीनता का खतरा लगता है। आशा है आप स्वस्थ और प्रसन्न होंगे। एक बार फिर मेरा आभार लें।

स्नेही

विष्णु प्रभाकर

सेवा में,

श्री शैलेश मरियानी, इत्यादिवादा।

इलाहाबाद ११ जून १९८८

आदरणीय विष्णु जी,

आपके २१ मार्च के पत्र का उत्तर लिखने अब बैठा हूँ। कुछ इतमीनान से लिखने के निश्चय में विलम्ब होता गया।

आपने 'अभिप्राय' में छपे 'रामायण' और रामचरितमानस के सांस्कृतिक खतरे' लेख की सराहना की। इससे जहाँ बल मिला, वही ग्लानि भी हुई कि काश, न सही विश्व साहित्य, अपने परम्परागत वाङ्मय का तो कुछ अध्ययन होता। वेद, उपनिषद और पुराणों की तो बात ही दूर, अभी तक 'रामायण' और 'रामचरितमानस' भी पूरे नहीं पढ़े। ज्ञान की अन्य शाखाओं की क्या कहूँ, साहित्य के ही अध्ययन के मामले में भी स्थिति बहुत ही शर्मनाक है। ऐसे में कुछ समय, लिखने की जगह, अध्ययन में लगाना जरूरी था, लेकिन लिखना तो आपाधापी में भी कर लेने की आदत है- पढ़ना कठिन। कम शिक्षा भी एक कारण है, क्योंकि समझते वक्त लगता है। बिना ज्ञान के ही लिखने के सम्भावित खतरों से परिचित होते भी, लिखना स्थगित नहीं कर पाता। सचाई यह है कि ज्ञान की दिशा अपने वश की नहीं लगती। अज्ञान 'आओ-आओ' कहता सुनाई पड़ता है। अनुभव से पाया कि अज्ञान भी अगाध है। इसीमें मन बना कि ज्ञान की चिंता में रुकना नहीं है।

मान्यता तो यही है कि अज्ञान आदमी को लट्ठ बनाता है, लेकिन जाने क्यों कुछ ऐसा भ्रम बनता गया कि एक मोड़ पर आकर अज्ञान अंधे को लाठी भी बन जाता है। जो ज्ञान से चलते हों, उन्हीं के साथ अज्ञान से चलते चलने का भी एक अपना रोमाच होता है। सड़क को लाठी से देखते होने का इतमीनान सात्वना देता है। अशिक्षा और अज्ञान के अंधेरे में चलते भी जात्रा में बने होने की अनुभूति सामान्य नहीं होती। इतना जरूर कि सबसे पीछे रहना होता है, लेकिन इसी में हित भी है।

ज्ञानियों के द्वारा कहे गये से सहमत नहीं हो पाना भी अज्ञान है और यह अज्ञान ही बहस को उकसाता है। कमलेश्वर भाई के 'रामायण' और रामचरितमानस से भारतीय संस्कृति को संकट उत्पन्न हो गये होने के निष्कर्ष से असहमति में ही 'अभिप्राय' वाली लम्बी टिप्पणी लिख गया। जानना चाहता था कि क्या 'रामायण' / रामचरितमानस के नित्यप्रति के पाठ या प्रसारण से भारतीय संस्कृति अथवा अन्य धार्मिक समाजों को सचमुच खतरा उत्पन्न हो सकता है, लेकिन अफसोस कि कमलेश्वर भाई ने बहस से इकार-सा ही कर दिया।

बात सिर्फ कमलेश्वर भाई तक ही सीमित नहीं। इधर हिन्दी के बुद्धिजीवियों के तरह-तरह के जत्थे-के-जत्थे इस बात पर जोर देते रहे हैं कि रामलीला अथवा 'रामायण' और रामचरितमानस के नित्यप्रति के प्रसारण तथा पाठों ने अन्यधर्मी समाजों, विशेषकर मुसलमानों, के लिये खतरा उत्पन्न कर दिया है। ये धर्मनिरपेक्षतावादी बुद्धिजीवी इस सवाल में जाना ही नहीं चाहते कि अगर 'रामायण' के दूरदर्शन पर प्रसारण से हिन्दू पुनरुत्थानवाद और साम्प्रदायिकता के फैलाव का खतरा बढ़ रहा है, तो सबसे पहले

‘रामायण’ और रामचरितमानस में से उन तथ्यों को रेखांकित करना, जिनमें मुसलमानों के विरुद्ध विद्वेष और हिंसा का आह्वान हो।

हम सब जानते हैं कि वस्तु अपना इस्तेमाल स्वयं नहीं करती। तब किसी भी वस्तु के दुरुपयोग को लेकर उसे इस्तेमाल करने वाले तत्वों को जिम्मेदार करार देना जरूरी होगा- और यह बताना भी कि जब ‘रामायण’ या ‘रामचरितमानस’ के नित्य-पाठ से मुसलमानों, ईसाइयों अथवा पारसियों आदि हिन्दूतर समाजों को खतरा हो सकता है, तो कुरान, बाइबिल, गुरुग्रंथ साहब अथवा जावेस्ता या अन्य धर्मग्रन्थों के नित्य पाठ से हिन्दुओं को खतरा क्योंकर नहीं होगा ?

हमारे अनेकानेक तथाकथित धर्मनिरपेक्ष बुद्धिजीवियों को यह मुग़ालता है कि एक तो हिन्दू समाज ही एक ऐसा खुला मैदान है, जहाँ कैसा भी कूड़ा-कंकड़ फेंकने में कोई जोखिम नहीं। दूसरे, हिन्दू धर्म के विरुद्ध बोलते ही, आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिसम्पन्न धर्मनिरपेक्ष बुद्धिजीवी होने का खिताब मिलते देर नहीं लगती ! जबकि धर्म को अफीम करार देना जरूरी हो, तो भी सिर्फ उसी धर्म को इस नेक काम के लिये चुनना सिवा अवसरवाद के और कुछ नहीं होगा, जिसमें कि धर्म को मनुष्य के अस्तित्व की शर्त मानने से इकार किया गया हो। जहाँ नास्तिकता को भी बाकायदे मान्यता प्राप्त हो। जहाँ यह सिद्धांत कहीं चलन में हो ही नहीं कि जो धर्म पर ईमान लाने से इकार करेगा, उसे समाज में भी कोई जगह नहीं होगी।

रामानन्द सागर ने ‘रामायण’ का फिल्मांकन कैसे और सरकार ने इसका दीर्घकालीन प्रसारण किस इरादे से किया, यह बिल्कुल अलग सवाल है और यह अलग कि ‘रामायण’ और ‘रामचरितमानस’ साम्प्रदायिक ग्रन्थ हैं। यहाँ ध्यान रहे कि सामुदायिक और साम्प्रदायिक, ये दोनों पूरी तरह अलग-अलग शब्द हैं, हालांकि महाकाव्य समग्र मानव जाति की सवेदनाओं का सवहन करते हैं, फिर भी, देश-काल की सीमाओं के चलते, उनके सामुदायिक होने की बात तो किसी हद तक सगत हो सकती है, लेकिन कोई भी महाकाव्य साम्प्रदायिक की किताब कभी नहीं होता। फिर जिन महाकाव्यों का मेरुदण्ड ही करुणा हो, उनके साम्प्रदायिक होने का सवाल ही नहीं उठता, क्योंकि साम्प्रदायिकता का पहला तत्व बर्बरता है। ‘रामायण’ और ‘रामचरितमानस’ को साम्प्रदायिक करार देने के मुरीद धर्मनिरपेक्ष बुद्धिजीवियों को बताना चाहिये कि क्या साम्प्रदायिकता को आधार बनाकर महाकाव्यों की रचना सम्भव भी है ? कहीं कोई ऐसा उदारहण ?

ऐसे तमाम अवसरवादी तथाकथित धर्मनिरपेक्ष बुद्धिजीवी साम्प्रदायिकता की आग को हवा देने का काम करते हैं, जो उसकी आँच में खुद की खिचड़ी राँधने का मौका देखते हों। अन्यथा सामुदायिक सद्भाव अथवा सामाजिक एकात्मता की बुनियादी शर्त ही यह है कि एक-दूसरे के विश्वासों और भावनाओं पर चोट नहीं की जाय। आज हम कुरान-बाइबिल पर कीचड़ उछालें और कल जब मुसलमान-ईसाइयों के द्वारा आन्दोलन किया जाए, तो उन पर मुस्लिम-ईसाई पुनरुत्थानवाद को भड़काने का आरोप जड़ दें-

इस चतुर बुद्धिजीविता में कुछ नहीं रखा।

प्रत्येक देश काल और समाज में कुछ व्यक्ति होते हैं, जो जीवन-भर मूल्यों के संघर्ष में तपते हैं। धर्म, दर्शन और काव्य के क्षेत्र में ऐसे अनेक मनीषी हुए हैं, जिनमें मानवसमाज की आकांक्षा, आस्था और संवेदना के सर्वोच्च शिखरों को आकार मिला है। ऐसे महापुरुषों के कार्यों और कृतित्व को केन्द्र में रखकर, अनेकानेक मानव समाज, हजारों-हजार वर्षों से, स्वयं की आस्था के वृत्त बुनते आये हैं। ऐसे तमाम व्यक्ति (अथवा ग्रन्थ) समय के साथ मानवजाति की धरा पर बुनते जाते हैं। उनमें मूल से अधिक सूद जुड़ जाता है। किसी भी मानव समाज की ऐसी परम्परागत धरोहर पर प्रहार करना सिवा साम्प्रदायिक बर्बरता के और कुछ नहीं। कट्टरता ऐसे प्रत्येक धर्म, दर्शन अथवा विचारधारा की नियति है, जिसमें ईमान नहीं लाने वालों के लिये जगह नहीं हो।

आदमी में यह विनय जरूरी है कि सर्वज्ञता असम्भव है। अपने ही ज्ञान का सर्वोच्च ज्ञान मानना जाहिलपन है। सृष्टि अगाध है। उसका जैसा हमें, दूसरों को भी ज्ञान बिल्कुल सम्भव है। ज्ञान की भिन्न-भिन्न शाखाओं का उदय और प्रसार ही मनुष्य के उन्मुक्त नैसर्गिक विकास का आधार निर्मित कर सकता है। इस वैचारिक खुलेपन में ही एक एम्पी विश्वचिंतना का अस्तित्व सम्भव हो सकता है जो धर्म या मजहब को आदमियत के आड़े नहीं आने दे। जो बताये कि विविधता सौन्दर्य को बढ़ाती है।

असहिष्णुता साम्प्रदायिकता का सबसे मुख्य तत्व है। जो असहमति बर्दाश्त करने में असमर्थ हो उस तमाम लागि बर्बर हात है। धार्मिक बर्बरता और बौद्धिक बर्बरता, ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जो स्वयं साम्प्रदायिक हैं, उनके हिन्दू साम्प्रदायिकता का हौवा खड़ा करने में कुछ दम नहीं। साम्प्रदायिकता के विरुद्ध संघर्ष के लिये वैचारिक खुलापन जरूरी शर्त है।

मनुष्य जितना सामाजिक, उतना ही निजी तथ्य भी है। वह ऐसे सार कार्यकलापों को नैसर्गिक तौर पर ही पूरी तरह स्वाधीन है, जिससे दूसरों को बाधा नहीं पहुँचती हो। धर्म के मामले में उपासना की पद्धतियों (अथवा खुदा या ईश्वरों) के सवाल विभिन्न मानव समुदायों की निजी आस्था के सवाल हैं। किसी भी धर्म अथवा विचारधारा को इस नैसर्गिक नियम से ऊपर नहीं माना जा सकता कि उसमें दूसरों के प्रति खुलापन हो। इतना जरूर कि हित के सवाल से कोई वस्तु ऊपर नहीं, इसलिये जब हितों का अतिक्रमण हो तब प्रतिरोध को हम स्वतंत्र हैं, लेकिन हमारी पहचान इस एक बात से हो जाती है कि हम पहले बन्दूक उठान में विश्वास करते हैं या कि बहस।

हिन्दू साम्प्रदायिकता की चिल्लियों मचाने से पहले हिन्दू समाज के इस वैचारिक खुलेपन पर भी ध्यान देना जरूरी होगा कि एक यही समाज है, जिसने धार्मिक अथवा सैद्धांतिक विवादों को शस्त्र नहीं, शास्त्रों से तय करने की परम्परा निर्मित की। जिसने शस्त्रबल से दूसरे समुदायों को स्वयं में लीलने की जगह, अपने में से विभिन्न धार्मिक-सैद्धान्तिक मतान्तरों के पृथक् अस्तित्व को अपनी ही नयी शाखाओं की भाँति

मान्य किया। यह एक तथ्य है कि दुनिया के पैगम्बरवादी धर्मों अथवा विचारदर्शनो की तुलना में विविधता में समरूपता (अनेकता में एकता) के प्रत्यय को हिन्दू समाज में ही पूरी तरह आकार मिला।

उस हर वस्तु का खुली किताब होना जरूरी है, जिसके कि तार सारे समाज तक जाते हो और वह हर वस्तु गडबड है, जिसे सवाल से ऊपर रखने की जिद हो, लेकिन सवाल भी इस सवाल से बरी नहीं कि हम कोई सवाल उठा क्यों रहे हैं ? फिर सवाल करते में ध्यान रखना जरूरी है कि आक्षेप सवाल नहीं। आक्षेप या छीटाकशी करने वाला कभी बहस नहीं चाहेगा, जबकि सवाल सिर्फ वही करेगा, जो जानना और समझना चाहता हो। जिस सवाल के पीछे जानने-समझने और बहस की प्रक्रिया गायब हो, वह जाहिलपन का सूचक हुआ करता है।

‘रामायण’-‘रामचरितमानस’ हो कि कुरान-बाइबिल-जावेस्ता या गुरुग्रन्थ साहब, किसी पर भी सवाल उठाना बुरा नहीं, लेकिन नेकनीयती जरूरी है। हिन्दू पुनरुत्थानवाद अथवा साम्प्रदायिकता के विरुद्ध बौद्धिक जेहाद मचाये हुए बुद्धिजीवियों में नेकनीयती नदारद है, इसलिये वो हिन्दू समाज की रूढ़ियों और विकृतियों की जगह, हिन्दू आस्था पर आघात करना जरूरी समझते हैं।

आपने भारत की जिस सामासिक संस्कृति का जिक्र किया, वह इसी मनाभूमि की उपज है कि- पृथिवी सबको है।

मानव समाज के धार्मिक की जगह साम्प्रदायिक समुदायों में विभक्त होने के पीछे सत्ता का संघर्ष मुख्य कारण रहा है। धर्म और साम्प्रदायिकता एक-दूसरे के अपिरहार्य अंग नहीं। साम्प्रदायिकता धर्म के बन्यादी सारतत्वों के विरुद्ध पड़ती है। धर्म को साम्प्रदायिकता का रंग वादियों की देन है। कालान्तर में जिस धर्म या धार्मिक मठ को जितना राज्याश्रय मिला, उतना ही उसका विस्तार हुआ, लेकिन बलात धर्मांतरण के द्वारा सामुदायिक वृद्धि का धार्मिक सिद्धांत हिन्दुओं ने कभी नहीं चलाया। जा छोटी-छोटी धाराओं की तरह बहते हिन्दू समाज की मुख्यधारा में आ गये, उनकी बात भिन्न है।

हिन्दू धर्म इस अर्थ में कभी राज्य का धर्म नहीं रहा कि हिन्दू समुदाय के बलात विस्तार में राज्य का कोई यागदान हो। इसलिये हिन्दू समाज की कुरीतियाँ और रूढ़ियाँ पर चोट करते हुए, इसके उस परम्परागत अवदान को ध्यान में रखना जरूरी होगा, जिसके कारण यह धर्म राज्यमत्ताओं का हथियार बनने से बचा रहा। जा हिन्दू धर्म पर ईमान नहीं लायेगा, उसे हिन्दू समाज में कोई जगह नहीं होगी, ऐसी कोई शर्त नहीं होने से ही हिन्दू समाज में अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता की मानसिकता बनी।

धार्मिक सहिष्णुता के पाठ को हिन्दुओं ने दूसरों नहीं, बल्कि दूसरों में हिन्दुओं से सीखा। आपने जो भारत के अंगजों के उर्पानवेश बनने से पहले के हिन्दू-मुस्लिम सौहार्द का जिक्र किया है, उसका मुख्य श्रेय हिन्दुओं को जाता है। दुनिया के इतिहास में कहीं

यह चमत्कार घटित नहीं हुआ कि विदेशी शासकों की संस्कृति और विजित देश के संस्कृति के मेल-मिलाप से वहाँ की मूल संस्कृति में और ज्यादा विस्तार आया हो। सिर्फ हिन्दुओं और मुसलमानों के संगम ने ही इस चमत्कार को आकार दिया। और ऐसा नहीं कि जिस दौर में हिन्दुओं-मुसलमानों के मेल-मिलाप से भारतीय संस्कृति के वृक्ष में गंगा-जमुनी संस्कृति की सबसे समृद्धतर सुंदरतर शाखा फूट रही थी, उन दिनों 'रामायण' और 'रामचरितमानस' अस्तित्व में नहीं रहे हो।

तब है कि आज के हिन्दू-मुसलमान विग्रह के पीछे बुनियादी कारण 'रामायण' या 'रामचरितमानस' कतई नहीं। हाते तो इनके विरुद्ध मुस्लिम शासकों के जमान में ज्यादा बावेलामचाता। ऐसे में हिन्दी के तथाकथित धर्मनिरपेक्ष बुद्धिजीवियों का साम्प्रदायिकता के तत्वों की पहचान स्पष्ट करने की जगह, 'रामायण' और 'रामचरितमानस' पर बौद्धिक झग उगलना किस बात का सूचक माना जाय ?

आपने लिखा है कि अंग्रेजों ने इस देश की सामाजिक संस्कृति को छिन्न-भिन्न करने की काशिश की। मुसलमान शासकों के समय तक में हिन्दू और मुसलमानों के बीच साम्प्रदायिक दंगों का अस्तित्व में नहीं होना इसका सबूत भी है। राज्यधिकार की लड़ाइयाँ अलग चीज हैं और साम्प्रदायिक दंगे अलग। साम्प्रदायिक दंगे सिर्फ साम्प्रदायिक राज्यव्यवस्था में ही सम्भव हैं। वर्तमान में जो हिन्दू-मुस्लिम दंगे या हिन्दू-सिख झगड़े हैं, इमीन्तिए कि राज्यसत्ता पर साम्प्रदायिक तत्वों का गठबन्धन हावी है, लेकिन हमारे धर्मनिरपेक्ष बुद्धिजीवी इस बहस में कोई दिलचस्पी नहीं रखते। कि राज्यव्यवस्था का चरित्र साम्प्रदायिक है, या नहीं। ये अपनी हवाई बौद्धिक क्रांति के लिये ऐसे साम्प्रदायिक संगठनों का चुनते हैं, जिनके विरुद्ध चिल्लाने में नुकसान कुछ नहीं, लाभ अनेक हैं।

आपने माना है कि अंग्रेजों की विघटनवादी नीतियों का भोग हम आज भी भुगत रहे हैं। इसका मतलब यही हुआ कि कांग्रेसी हुकूमत ने अंग्रेजों की सामुदायिक विघटन की राष्ट्रविरोधी नीति को ज्यों-का-त्यों चलाने में बनाये रखा है। तब तो देश के सारे जागरूक बुद्धिजीवियों को अपने साम्प्रदायिकताविरोधी बौद्धिक जेहाद का रुख कांग्रेसी हुकूमत की तरफ ही रखना चाहिये ? क्योंकि अंग्रेजों की फूट डालो, राज करो की कूटनीति के दुष्परिणाम अगर हम आजादी के चालीस साल बाद भी भुगत रहे हैं, तो सिर्फ भुगतने के शौक में तो नहीं ही भुगत रहे होंगे ?

जाहिर है कि हमारे तथाकथित धर्मनिरपेक्ष बुद्धिजीवियों को इस तरह के सवाल में कोई रुचि नहीं। इनका जो रवैया धर्म, वही भाषा के मामले में भी है। ये हिन्दी के द्वारा उर्दू के दमन की कहानियाँ सुनाते नहीं थकेगे लेकिन अंग्रेजी के द्वारा सारी भारतीय भाषाओं के दमन का जिक्र कभी नहीं करना चाहेंगे। धर्म हो कि भाषा, ये किसी भी मामले में इनके बुनियादी सवालों पर कभी नहीं जाना चाहते। इनका सारा जोर हिन्दू-हिन्दी पुनरुत्थानवाद तथा एकाधिपत्य का ढौंवा खड़ा करके, स्वयं के मुखौटे पर समाजवादी-वैज्ञानिक धर्मनिरपेक्षता का रंग-रोगन चमकाते रहने तक सीमित है। जबकि

वैचारिक खुलापन वैज्ञानिक सोच की पहली पहचान है और, सारी विकृतियों के बावजूद, वैचारिक खुलेपन को आज भी जितनी हिन्दू समाज में जगह है, अन्यत्र नहीं।

इसमें कोई संदेह नहीं कि आज हिन्दू समाज अनेकानेक रूढ़ियों और सकीर्णताओं में जकड़ा हुआ है। इसके मेरुदण्ड में दरार आ चुकी है। जातिवाद का कोढ़ पक चुका है।-- लेकिन ओने-कोने ही सही, कैसी भी खुली बहस को अभी भी मौजूद है और जरूरी है कि हिन्दू समाज की ऐसी तमाम कुरीतियों, रूढ़ियों और सकीर्णताओं की तीखी-से-तीखी आलोचना की जाय, जिनसे घाव के नासूर बनने के खतरे मौजूद हों।--- लेकिन जहाँ तक विचारहीनता का सवाल है, यह खतरा सिर्फ हिन्दू धर्म ही नहीं, बल्कि दुनिया के तमाम धर्मों, यहाँ तक कि स्वयं विज्ञान के माथे पर भी मड़रा रहा है।

यहाँ स्वतः सम्पूर्ण कुछ नहीं। न धर्म, न विचारधारा और न विज्ञान। धर्म की ही तरह विज्ञान भी राज्यसापेक्ष है। राम के समय धर्म का लोप नहीं था। आज विज्ञान उत्कर्ष पर है, लेकिन इसने मनुष्य को स्वस्ति नहीं दी। भयंकर विनाश के बादल उमड़ते-धुमड़ते दिखाई दे रहे हैं, तो इसलिये नहीं कि विज्ञान स्वयं में ही विनाशकारी तत्व है बल्कि इसलिए कि दुनिया हथियार के सौदागरों के कब्जे में हुई पड़ी है।

विचारहीनता स्वयं में ही खतरनाक है। इससे क्या फर्क पड़ना कि कहाँ है, कहाँ नहीं। विज्ञान और विचारधारा के क्षेत्र की विचारहीनता धर्म के खतरों से कम खतरनाक कतई नहीं होती। मानवजाति के विनाश का जितना बड़ा खतरा विज्ञान के दुरुपयोग में है, उतना धर्म नहीं, क्योंकि धर्म की सहारकता भी हथियार पर ही अटकी है। एक भोपाल गैसकाण्ड में कितने लोग उजड़ गए ! आने वाले समय में मानवजाति को सबसे बड़ा खतरा विज्ञान की ओर से ही है, इसलिये विज्ञान के क्षेत्र की विचारहीनता धर्म में वैज्ञानिक विचारहीनता से कम खतरनाक नहीं होगी।

सचाई है यह कि हर देश-काल में आदमी की सबसे बड़ी जरूरत विचारहीनता के विरुद्ध संघर्ष की है। विचार की पहली शर्त है दृष्टि। दृष्टि को सबसे बड़ी बाधा है एकतरफापन। धर्म, विचारधारा अथवा साहित्य-एकतरफापन जहाँ भी हो, विकृति उत्पन्न करेगा जरूर, क्योंकि एकतरफापन आदमी को काना बनाता है। इसलिये हम चाहिये कि साम्प्रदायिकता के तत्वों की खोज में सिर्फ हिन्दुओं या हिन्दू धर्मग्रंथों अथवा महाकाव्यों की तरफ ही रुख न रखें। आदमी को चारों तरफ देखना जरूरी है। खाम तौर पर तब, जबकि सकट के बादल कहीं एक ही दिशा नहीं, बल्कि चारों तरफ से उमड़ रहे हों।

धारणा गलत हो सकती है, लेकिन इस बात को लेकर उद्विग्नता है जरूर कि धर्म, भाषा, राष्ट्रीयता, साहित्य, संस्कृति और राज्यव्यवस्था के सवाल को लेकर हमारे अधिकांश लेखक-विचारक उदासीन हैं और बहस से बचना चाहते हैं। नतीजा है यह कि धर्म, भाषा और संस्कृति या राष्ट्रीयता- जैसे मुद्दा पर भी निर्णायक शक्तियाँ का दर्जा उन राजनेताओं को मिल गया है, जिनके लिये य मानव समाज के कल्याण नहीं बल्कि खुद की गद्दी के लिये इस्तमाल की वस्तुएँ हैं। लेकिन अफसोस कि हमारे अनेकानेक प्रकाण्ड बुद्धिजीवियों को तक वाल्मीकि और तुलसीदास या भारतीय संस्कृति के लिये खतरनाक

दिखाई पड रहे हैं, लेकिन वो राजनेता नहीं, जिनके लिये सस्कृति का लगभग वैसा ही महत्व है, जैसा चील के लिये गोश्त का ।

आप वरिष्ठ और प्रतिष्ठित साहित्यकार हैं । आपके पत्र का इतने विस्तार से जवाब देने को अहम्मन्यता भी माना जा सकता है, लेकिन आपके उदार स्वभाव को देखते क्षम्यता की 'गारण्टी' अनुभव कर सकता हूँ । आदमी वही ज्यादा कहता है, जहाँ ऐसी गुजाइश हो ।

सानन्द होंगे ।

आपका
शैलेश मटियानी

सेवा मे,
श्री विष्णु प्रभाकर जी,
८१८, कुण्डेवालान चौक, अजमेरी गेट, दिल्ली ।